राग-विराग

संगीत के अनुराग में भीगी उस युवती की कहानी, जिसे बार-बार टूटन मिली, बिखराव मिला और मिला सच्चाई से सीधा साक्षात्कार



मालती जोशी

राग-विराग



सरस्वती विहार



अपने गुरुजनों को,
जिन्होंने समय-समय पर
मेरे मानस को
साहित्य और संगीत से
संस्कारित किया

राग-विराग

तानपूरा नीचे रखते हुए पता नहीं कैसे दृष्टि द्वार पर चली गयी। देखा, दो झीलसी गहरी आंखें अपलक मुझ पर टिकी हुई हैं। सकपकाकर मैंने नजरें झुका लीं और अपना सामान समेटना प्रारंभ किया। पंडित जी अब तक लौटे नहीं थे। खोल चढ़ाकर मैंने तानपूरा यथास्थान रखा और रसोई के दरवाजे पर खड़े होकर कहा, "जिया, मैं जा रही हूं। दरवाजा देख लेना।" लेकिन पूरी बात शायद मैं कह भी न पायी क्योंकि मुझे घूरनेवाली वे आंखें सशरीर जिया की रसोई में विराजमान थी।

"ए कनु, आओ, चाय पीव जाओ," जिया ने फरमान छोड़ा। उसे नकारने की ताब मुझमें न थी। चुपचाप जाकर पटरे पर बैठ गयी, पर आंखें अब भी उस अपरिचित की ओर उठ-उठ जाती थी।

"ये मनोज हैं, हमारे वहनौत हैं," जिया ने जैसे मेरे असमंजस को पढ़ लिया, "गाव से परीक्षा देने आये हैं।"

मैंने "अच्छा" कहकर प्रसंग समाप्त कर दिया। जिया के रिश्तेदारों में अब हम लोगों को कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी है, क्योंकि एक तरह से सारी दुनिया ही उनके भाई-भतीजों से भरी पड़ी है, कोई ससुराल पक्ष से, कोई पीहर पक्ष से, तो कोई केवल गाव के नाते से उनका सगा-संबंधी हो जाता था।

एक बार तो कोई अब्दुल गनी साहब पंडित जी से मिलने आये हुए थे। मैंने जिया को छेड़ा, "ये भी तुम्हारे कुछ लगते होंगे!"

"सो ? का लगत नइयां ? हमाई जिठानी के राखी वंद भैया हैं।"

उनके गंवई रिश्तेदारों की फौज का एक और नमूना आज देख लिया था। उसे नजरअंदाज करते हुए मैं एक ही घूंट में कप खाली कर गयी। उसे धोकर रखा और कहा, "अच्छा जिया, चलूंगी।"

दूसरे दिन स्कूल से वाहर निकली ही थी कि दरवाजे में ही मुठभेड़ हो गयी।

"नमस्ते !" उन्होंने ही पहल की। नहीं तो मैं शायद पहचान भी न पाती।

"आप यहां कैसे ?" दोनों ने एक साथ प्रश्न किया।

"मैं यहां पढ़ाती हूं।" मैंने कहा।

"क्या पढ़ाती हैं ?"

मैंने 'संगीत कला निकेतन' के वोर्ड की ओर संकेत किया।

"मतलब शाम को मौसा जी से सीखने आती हैं और वही सुवह यहां पढ़ा देती हैं, ठीक है न ?"

"इस वचकाने प्रश्न का मैंने जवाव नहीं दिया, वल्कि पूछ ही लिया, "आप यहां किसलिए तशरीफ लाये हैं ?"

"परीक्षा देने," उन्होंने वगल में रखे टाइपराइटर की ओर संकेत किया।

"अच्छा, इस विल्डिंग में टाईपिंग की परीक्षाएं भी होती हैं ! मुझे तो पता ही नहीं था। अच्छा जी, मैं चलूं, अव देर हो रही है।"

"वेस्ट लक नहीं दीजिएगा ?"

"वेस्ट लक ! मैं ?"

"और क्या ? एक तो हाल के दरवाजे पर ही मिल गयी हैं और…"

"मतलव पेपर खराव हो जाये तो मुझे ही दोप देंगे ?"

"सो तो है ही। मेरे भविष्य का न सही, इस टाइपराइटर का तो लिहाज कीजिए। किराये पर लाया हूं।"

पूरी दोपहर मन में धुकुर-पुकुर होती रही। पता नहीं, परीक्षा कैसी रही होगी ? पता नहीं महाशय खुद कितनी तैयारी से आये हैं। पर अगर

वहां कुछ नहीं बन पड़ा, तो मुझे ही कोसेंगे। उनके कोसने की वैसे खास परवाह भी नहीं थी। पर पता नहीं क्यों, मन वहीं अटका रहा।

चार बजे मैंने अपनी कापी और पेन उठाकर चलने की तैयारी की तो मां आश्चर्य से देखने लगी, "आज तो बुधवार है न ?"

मां जानती है, पंडित जी मुझे केवल मंगल और शुक्र को सिखाते हैं। हफ्ते के छहों दिन उनके शिष्यों में बटे हुए हैं। सोमवार को छुट्टी रहती है, क्योंकि उस दिन उनका व्रत रहता है। दिन-भर निराहार रहकर शाम को नीलकंठेश्वर के दर्शन करने के बाद ही वे खाना खाते थे। वही दिन था जो जिया को बाहर के कमरे की सफाई के लिए मिलता था। कमरे को लीपना, वाद्ययंत्रों के गिलाफ धोना, दरियां झटकारकर फिर से बिछाना—ये सारे काम जिया अकेले निपटाती थी। इसमें किसी का दखल उन्हें पसंद न था।

मां को सारे कार्यक्रम की जानकारी थी। इसीलिए उन्होंने पूछा, "आज तो बुधवार है न ?"

"कल पंडित जी को सेठ जी ने किसी काम से बुलवा लिया था। प्रैक्टिस हो ही नहीं पायी," मैंने किसी तरह मां का समाधान किया और पंडित जी के घर की राह ली।

"क्यों बेटे ?" वे खुद भी मुझे देखकर विस्मित थे।

"जी, वो जो आपने श्याम कल्याण की चीज बतायी थी, बहुत कोशिश की मैंने पर वह अंतरा उठाते ही नहीं बन रहा।"

"कोई बात नहीं, अभी देख लेते हैं। तानपूरा मिलाओ जब तक," उन्होंने वात्सल्यपूर्ण आश्वासन दिया। उनके पास बैठे दोनों शिष्य मुझे गद्गद भाव से निहारने लगे। उन लोगों की पढ़ाई उस दिन वहीं रुक गयी। सबके-सब मेरे लिए व्यग्र हो उठे। एक ने हारमोनियम संभाल लिया, दूसरा तबला सुर में बिठाने लगा।

आलाप शुरू ही किया था कि श्रीमान जी भीतर दाखिल हुए।

"कहो बेटे, पेपर कैसा रहा ?"

"अच्छा ही रहा मौसा जी। सुबह आप लोगों के आशीर्वाद लेकर चला था। फिर रास्ते में अच्छे लोगों से मुलाकात होती गयी।"

मैंने कनखियों से देखा—वे मेरी ओर देखकर शरारत से मुस्करा रहे थे।

पता नहीं पंडित जी ने इसे लक्ष्य किया या नहीं, पर तुरंत ही उस प्रसंग को बदलकर मुझसे बोले, "हां बेटे, शुरू करो तो।"

दोबारा शुरू किया तो लगा, पूरा शरीर ही तानपूरा बन गया है जैसे। रोम-रोम से स्वरावलियां फूट रही थीं। पंडित जी मुझ पर अकसर बिगड़ा करते थे, "क्या रट्टू तोते की तरह गाती चली जाती हो ! बोल के मर्म को तो समझो बेटे, शास्त्र ही सब कुछ नहीं है, गायन में मिठास भी होनी चाहिए। और यह मिठास केवल स्वर को साधने से नहीं आती। उसके लिए शब्दों की तह तक जाना पड़ता है। गायक जब गीत में अपने प्राण उड़ेलता है, तब जाकर बात पैदा होती है।"

यह प्राण उड़ेलना क्या होता है, यह मैंने आज जाना।

सावन की सांझ मोको सुखद भई।

सच, इतनी खुशनुमा सांझ तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी। बेगम अख्तर की एक गजल मुझे बहुत अच्छी लगती है:

यूं तो हर शाम उम्मीदों में गुज़र जाती थी
आज क्या बात है जो शाम पे रोना आया

इन पंक्तियों को गाते हुए उनके स्वर में ऐसी तड़प होती है जैसे सचमुच शाम उनके लिए दर्द का पैगाम लेकर आयी हो। इसके विपरीत मुझे लग रहा था कि आज की शाम मेरे लिए खुशियों का काफिला लेकर उतरी है।

गाना समाप्त करते हुए अनायास ही आंखें रसोई की ओर उठ गयीं। दो झील-सी गहरी आंखें अपलक मुझे निहार रही थीं। कल उन आंखों में कौतूहल था, आज परिचय की आंच थी। उस आंच से मैं कानों तक लाल हो आयी।

घर के लिए चली तो वे भी साथ चले आये।

"कहां रहती हैं आप ? कहें तो घर तक छोड़ दूं ?"

"अरे नहीं बाबा !"

"क्यों ? डरती हैं ?"

"हां, लोगों से।"

"अच्छा!" कल तो हमें चले ही जाना है। आपसे एक बात कहनी थी। आप गाती हैं न तो आपका चेहरा एक उजास से भर जाता है।"

मैं कुछ पल उनके सुदर्शन व्यक्तित्व को निहारती रही। फिर धीरे से कहा, "मैं सुन्दर नहीं हूं। यह बात मैं अच्छी तरह जानती हूं।"

"मैंने आपके रूप को लेकर तो कुछ नहीं कहा, मैं तो कह रहा था कि गाते समय आपका चेहरा एक अनोखे उजास से भर जाता है। ऐसा क्यों?"

ऐसा क्यों?

इस प्रश्न का भला कोई क्या उत्तर दे!

कोई दो महीने बाद पंडित जी के घर पे वही आकृति फिर दिखाई दी। देखते ही भान हुआ कि पिछले दिनों मेरे अंतरंग सपनों में यह चेहरा बार-बार उभरता रहा है। सोचकर शर्म से, संकोच से भर उठी मैं। फिर भी उनके 'नमस्ते' का जवाब तो देना ही था।

"कब आना हुआ?" स्वर को संयत कर मैंने पूछा।

"परसों रात को—और इस बार जाने के लिए नहीं आया हूं। आपके शहर में खूंटा गाड़ दिया है।"

"मतलब?"

"उसकी नौकरी लग गयी है," पंडित जी ने बताया। उनके स्वर से स्पष्ट था कि रियाज के बीच इस तरह का व्यवधान उन्हें पसंद नहीं है। मैंने तुरन्त सारा ध्यान समेटकर गाने में लगाया। पर बार-बार यही लगता रहा—कम-से-कम 'कांग्रेच्युलेशंस' तो कह ही सकती थी। सच, क्या सोचा होगा उन्होंने?

पर बधाई लेने को वह मुझसे ज्यादा आतुर लगे। दरवाजे के बाहर ही उन्होंने मुझे घेर लिया और साथ हो लिये।

"माफ कीजिए, आपको बधाई देना भूल ही गयी।"

"मैं तो सोच रहा था, आप छूटते ही मिठाई मांगेंगी।"

"मिठाई!"

मैंने कनखियों से देखा—वे मेरी ओर देखकर शरारत से मुस्करा रहे थे।

पता नहीं पंडित जी ने इसे लक्ष्य किया या नहीं, पर तुरंत ही उस प्रसंग को बदलकर मुझसे बोले, "हां बेटे, शुरू करो तो।"

दोबारा शुरू किया तो लगा, पूरा शरीर ही तानपूरा बन गया है जैसे। रोम-रोम से स्वरावलियां फूट रही थीं। पंडित जी मुझ पर अकसर बिगड़ा करते थे, "क्या रट्टू तोते की तरह गाती चली जाती हो! बोल के मर्म को तो समझो बेटे, शास्त्र ही सब कुछ नहीं है, गायन में मिठास भी होनी चाहिए। और यह मिठास केवल स्वर को साधने से नहीं आती। उसके लिए शब्दों की तह तक जाना पड़ता है। गायक जब गीत में अपने प्राण उड़ेलता है, तब जाकर बात पैदा होती है।"

यह प्राण उड़ेलना क्या होता है, यह मैंने आज जाना।

सावन की सांझ मोको सुखद भई।

सच, इतनी खुशनुमा सांझ तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी। बेगम अख्तर की एक गजल मुझे बहुत अच्छी लगती है:

यूं तो हर शाम उम्मीदों में गुजर जाती थी
आज क्या बात है जो शाम पे रोना आया

इन पंक्तियों को गाते हुए उनके स्वर में ऐसी तड़प होती है जैसे सच-मुच शाम उनके लिए दर्द का पैगाम लेकर आयी हो। इसके विपरीत मुझे लग रहा था कि आज की शाम मेरे लिए खुशियों का काफिला लेकर उतरी है।

गाना समाप्त करते हुए अनायास ही आंखें रसोई की ओर उठ गयीं। दो झील-सी गहरी आंखें अपलक मुझे निहार रही थीं। कल उन आंखों में कौतूहल था, आज परिचय की आंच थी। उस आंच से मैं कानों तक लाल हो आयी।

घर के लिए चली तो वे भी साथ चले आये।

"कहां रहती हैं आप? कहें तो घर तक छोड़ दूं?"

"अरे नहीं बाबा!"

"क्यों? डरती हैं?"

"हां, लोगों से।"

"अच्छा !" कल तो हमें चले ही जाना है। आपसे एक बात कहनी थी। आप गाती हैं न तो आपका चेहरा एक उजास से भर जाता है।"

मैं कुछ पल उनके सुदर्शन व्यक्तित्व को निहारती रही। फिर धीरे से कहा, "मैं सुन्दर नहीं हूं। यह बात मैं अच्छी तरह जानती हूं।"

"मैंने आपके रूप को लेकर तो कुछ नहीं कहा, मैं तो कह रहा था कि गाते समय आपका चेहरा एक अनोखे उजास से भर जाता है। ऐसा क्यों ?"

ऐसा क्यों ?

इस प्रश्न का भला कोई क्या उत्तर दे !

कोई दो महीने बाद पंडित जी के घर में वही आकृति फिर दिखाई दी। देखते ही भान हुआ कि पिछले दिनों मेरे अंतरंग सपनों में यह चेहरा बार-बार उभरता रहा है। सोचकर शर्म से, संकोच से भर उठी मैं। फिर भी उनके 'नमस्ते' का जवाब तो देना ही था।

"कब आना हुआ ?" स्वर को संयत कर मैंने पूछा।

"परसों रात को—और इस बार जाने के लिए नहीं आया हूं। आपके शहर में खूंटा गाड़ दिया है।"

"मतलब ?"

"इसकी नौकरी लग गयी है," पंडित जी ने बताया। उनके स्वर से स्पष्ट था कि रियाज के बीच इस तरह का व्यवधान उन्हें पसंद नहीं है। मैंने तुरन्त सारा ध्यान समेटकर गाने में लगाया। पर बार-बार यही लगता रहा—कम-से-कम 'काँग्रेच्युलेशंस' तो कह ही सकती थी। सच, क्या सोचा होगा उन्होंने ?

पर बधाई लेने को वह मुझसे ज्यादा आतुर लगे। दरवाजे के बाहर ही उन्होंने मुझे घेर लिया और साथ हो लिये।

"माफ कीजिए, आपको बधाई देना भूल ही गयी।"

"मैं तो सोच रहा था, आप छूटते ही मिठाई मांगेंगी।"

"मिठाई !"

"हां, आपका तो हक बनता है। आपकी दुआओं ने ही तो असर दिखाया है। नहीं तो हम इस बार भी बैरंग ही लौटते। बोलिए, कहां चलेंगी ?"

"आपकी पहली तनख्वाह मिलने दीजिए, तब मिठाई लेंगे।"

"मिठाई न सही। एक-एक कप चाय तो हो जाये। कुछ तो सेलिब्रेट करने दीजिए। आइए।"

हम लोग मानसरोवर के सामने खड़े थे। वहां खड़े होकर ना-नुकर करने का मतलब था लोगों का ध्यान आकृष्ट करना। चुपचाप उनके पीछे हो ली।

इत्मीनान से बैठकर जब लंबा-चौड़ा आर्डर दिया जा चुका तो मैंने पूछा, "बहुत खुश हो रहे हैं ?"

"खुश होने की तो बात ही है। दो साल से प्राइवेट मिडिल स्कूल में लड़के हांक रहा हूं। साले तीन सौ पर साइन करवाकर दो सौ टिकाते थे। ऊपर से क्लर्क का भी काम करवाते थे।"

"यहां क्या मिलेगा ?"

"साढ़े चार सौ का तो ग्रेड ही है। ऊपर से महंगाई भत्ता है, अंतरिम राहत है। फिर सरकारी नौकरी है, काम की कोई पाबंदी नहीं, किया तो किया, नहीं किया तो नहीं किया। कोई पूछनेवाला नहीं, ढेर सारी छुट्टियां, सी०एल०, ई०एल०, मेडिकल···बस, आराम से जिंदगी कट जायेगी। फिर बुढ़ापे की पेंशन तो कोई रोक ही नहीं सकता—ऐसे क्या देख रही हैं ?"

"सोच रही थी···"

"क्या ?"

"लोग कैसी-कैसी महत्त्वाकांक्षाएं पाल लेते हैं !"

"कल्याणी जी", वे एकदम गंभीर हो उठे, "हम आपकी तरह कलाकार नहीं हैं। आकांक्षाओं का आकाश बस इतना-सा है।"

"अरे, आप तो बुरा मान गये। आई एम वेरी सारी।"

"नहीं, इसमें सारी कहने जैसी तो कोई बात ही नहीं है। आपने सच कहा है। और अब अगर आप बुरा न मानें तो मैं भी कुछ सच बोलना चाहता हूं। इस नौकरी से मैं खुश हूं, इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि

यहां रह सकूंगा। आपसे रोज भेंट हो सकेगी।"

मैंने तड़पकर उनकी ओर देखा। इच्छा हुई कि चीखकर कहूं कि इतना खुशनुमा झूठ मत बोलिए। उसे सच मान लेने की इच्छा होती है।

पर प्रकट रूप में इतना ही कहा, "रोज नहीं। मैं केवल मंगल और शुक्र को ही पंडित जी के पास आती हूं।"

"केवल वही एक जगह तो नहीं है।"

"नहीं—पंडित जी यह सब पसंद नहीं करेंगे।"

"सवाल उनकी पसंद का नहीं है। आप पसंद करेंगी कि नहीं, यह बताइए?"

पानी के तेज बहाव में जैसे संतुलन खो जाता है, वैसा ही कुछ मेरे साथ हुआ। घर लौटी तब भी मेरे पैर जमीन पर नहीं थे।

बरामदे में ही भैया टकरा गये। गोद में ट्रांजिस्टर रखे 'स्वरसुधा' सुन रहे थे। मतलब पौने सात बज चुके थे। डर लगा कि देर से लौटने के लिए जवाब तलब होगा। पर वे तन्मयता से कार्यक्रम सुन रहे थे। मुझे देखते ही बोले, "कनु, सुन! टैगोर हाल में पिछली बार परवीन ने यही चीज सुनायी थी न?"

अब मेरे कान सजग हुए, हंस ध्वनि का तराना था। इसे भी आज ही बजना था। मेरा रोम-रोम उस लय पर थिरक उठा। हर तान के साथ मन अंगड़ाई ले रहा था।

"कनु?"

"जी," मैं जैसे सोते से जागी।

"बहुत खुश नजर आ रही है आज!"

"नहीं तो," मैंने कहा और तब ध्यान आया कि गाना तो कब का समाप्त हो चुका, खेल समाचार शुरू हो गये थे और मैं अभी उसी धुन पर थिरक रही थी।

अपने उसी स्वांग को बरकरार रखते हुए मैं 'तकि धूम तिनक तकि धूम' गुनगुनाती हुई कमरे में चली आयी। मन तो हुआ था, भैया से कहूं—

हां भैया, आज मैं बहुत खुश हूं। आज पहली वार किसी ने मेरी देह से परे जाकर मेरे अंतस के सौंदर्य को पहचाना है। पहली वार किसी ने मेरी भावनाओं को अपना मखमली स्पर्श दिया है। पहली वार किसी ने सपनों से मांग भरी है। पहली वार···

मेज पर रखे लंबे लिफाफे ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया। खोलकर देखा, एप्वाइंटमेंट लेटर था। इसी सोमवार को मानिक चौकवाली ब्रांच में ज्वाइन करना था। एक तरह से भैया ने अपना वादा निभाया था। "एक वार तू इंटरव्यू में निकल जा। फिर पोस्टिंग का जिम्मा मेरा रहा। तेरी संगीत साधना में कोई व्यवधान नहीं आयेगा," उन्होंने कहा था।

खुश होना चाहिए था मुझे, वैंक की नौकरी आजकल मिलती किसे है? पर इस सफलता से जुड़ा सारा प्रसंग याद करके मन कड़वा हो आया।

भैया तीसरी वार मेरे लिए फार्म लाये थे। उसे मां के सामने पटककर मैंने कहा था, "आखिर आप लोग हाथ धोकर मेरे पीछे क्यों पड़ गये हैं? जानते तो हैं कि इन चीजों में मेरा मन नहीं लगता।"

"मन तो लगाने से लगता है," मां ने शांत स्वर में कहा।

"कोई जवरदस्ती है?" मैं भुनभुनायी।

"कनु, कभी वात को समझा भी तो कर। हर वार अपनी ही हांकती रहेगी या किसी की सुनेगी भी!"

"सुनाइए, क्या सुनाना है?"

"देख विटिया, जमाने का चलन अव वदल गया है। आजकल लड़की का रूप-रंग कोई नहीं देखता। सव नौकरी पर मरते हैं। नौकरी अगर वैंक की हो तो फिर पूछना ही क्या! लड़केवाले हाथोंहाथ ले जाते हैं।"

यह रूप-रंगवाली वात भीतर तक चुभनेवाली थी। उसे दिलेरी से झेलते हुए मैंने कहा, "मां, अव्वल तो मुझे शादी ही नहीं करनी। और जो लोग सिर्फ मेरी नौकरी देखकर रीझेंगे, वहां तो विलकुल भी नहीं।"

"शादी नहीं करनी तो फिर क्या करने का इरादा है?"

"वही जो कर रही हूं।"

"गाने से किसी की जिंदगी वनी है?"

"मेरी वनेगी। तुम देखना, एक दिन मैं कहां पहुंचूंगी। तव तुम्हीं मेरी

तारीफ करते नहीं अघाओगी।"

"आसमान की ऊंचाई कोई एक दिन में नहीं छू लोगी तुम। उसमें समय लगता है। तब तक के लिए क्या सोचा है?"

"मतलब?"

"कनु बेटे," मां ने उसांस भरकर कहा, "तुम्हारे बाबू जी नहीं रहे। मैं भी अब कितने दिन जीऊंगी। यही साल-दो साल···पांच साल। भाई भी मान लो तुम्हारे अपने हैं पर भाभियां तो पराये घर से आयी हैं। शादी नहीं करोगी तो क्या जिंदगी-भर उनके भरोसे बैठी रहोगी? हाथ में कुछ हुनर तो होना चाहिए। हर महीने तनख्वाह लाकर उनके हाथ पर रखोगी तो भाभियों की भी आत्मा शांत रहेगी। नहीं तो यही सोचेंगी कि दुनिया-जहान की लड़कियां नौकरी करती हैं लेकिन ये दोनों मां-बेटी मुफ्त की रोटियां तोड़ रही हैं।"

मां को फिर और कुछ नहीं कहना पड़ा था। हारकर फार्म भर दिया था मैंने। फिर एक कोचिंग क्लास भी ज्वाइन कर ली थी। तीन महीने जम-कर पढ़ाई की थी और आज यह नौकरी का नियुक्तिपत्र मेरे हाथ में था।

मन हुआ, उस कागज के टुकड़े-टुकड़े करके मां के सामने उछाल दूं और कहूं—अब इस नौकरी की जरूरत नहीं है मां। इसके बिना भी मुझे चाहनेवाले लोग दुनिया में हैं···

अगली बार भेंट हुई तो मैंने ही आमंत्रण दिया, "आज चाय हमारी ओर से पीजिएगा।"

"किस खुशी में?"

"हमें नौकरी मिल गयी है।"

"लेकिन आप तो नौकरी करती थीं न?"

"वह कोई नौकरी थी! पाकेटमनी तक नहीं जुटती थी। मैंने तो सोचा था कि उस बहाने थोड़ा रियाज हो जाया करेगा। पर बच्चों के साथ चिल्लाते हुए मेरा गला भी फटे बांस का-सा हो गया है।"

"अब कहां मिली है?"

"बैंक में, यूनियन बैंक।"

"वाह !··· तब तो सिर्फ चाय से काम नहीं चलेगा।"

"जो आप कहें।"

रेस्तरां से निकलकर हम लोग पार्क की तरफ निकल गये। वही जानी-पहचानी जगह, वही परिचित माहौल था। पर साथ बदल जाने से एकदम खुशनुमा हो उठा था। वहां नरम घास पर पैर फैलाकर बैठते हुए बोले, "कल्याणी जी, एक काम कर सकेंगी ? आप सुबह पढ़ाने जाती हैं न ? वहां कुछ परिचय तो हो गया होगा। एक-दो ट्यूशंस दिलवा सकेंगी ?"

"क्यों ? पढ़ाने से मन नहीं भरा क्या ?"

"सिर्फ मन भरने से क्या होता है !" वे बुदबुदाये; फिर मुझसे बोले, "बहुत सारा खाली समय रहता है मेरे पास। उसका उपयोग हो जायेगा। फिर थोड़ा सहारा तो होगा ही।"

"सहारे का तो मैं नहीं जानती, पर हां, खाली समय के उपयोग के बारे में सुझाव दे सकती हूं।"

"क्या ?"

"भाग्य से आपकी पोस्टिंग इतने बड़े शहर में हुई है। अब कुछ क्वालिफिकेशंस बढ़ाने के बारे में सोचिए न ! क्या जिंदगी-भर क्लर्क ही बने रहने का इरादा है ? एम० ए० की क्लासेज सुबह लगती हैं। आप आसानी से किसी भी विषय में एम० ए० कर सकते हैं। या चाहें तो शाम को मैनेजमेंट या लॉ ज्वाइन कर सकते हैं। और आप तो बी०एस-सी० हैं न, पालिटेकनिक में दाखिला क्यों नहीं ले लेते ? मजे से तीन साल में डिप्लोमा ले लेंगे।"

वे एकदम उदास हो आये, "कल्याणी जी, उस दिन आप मेरी महत्वाकांक्षाओं को सुनकर हंसी थीं, आज···"

"ओह तो आप उस बात को भूले नहीं हैं ?"

"नहीं भूल सका। और मैं चाहता हूं कि आप भी मेरी यह बात याद रखें कि महत्वाकांक्षाएं पालने के लिए भी सुविधा चाहिए। याद होगा, आपको उस दिन मैंने कहा था, मेरी आकांक्षाओं का आकाश बस इतना-सा

ही है। जानती हैं क्यों ? सपने देखने की उम्र में ही गृहस्थी का भार कंधों पर आ पड़ा है। सिर उठाकर चलने की आदत ही छूट गयी है।

"मेरे पिता बहुत बड़े आदमी नहीं थे, पर उनके होने में एक सहारा था, निश्चिंतता थी। चार साल पहले उनका देहांत हो गया। एक बहन की शादी वे करके गये हैं। पर कर्ज की किस्तें अभी बाकी हैं। दूसरी बहन भी अभी ब्याहने को है। मां भी हैं। इतनी सारी जिम्मेदारियां लेकर आदमी ऊंची उड़ान कैसे भर सकता है ? उसे जमीन पर ही घिसटना पड़ेगा।"

मैं करुणा से आप्लावित होकर उनकी गाथा सुन रही थी। कभी सोचा भी न था कि यह हंसमुख व्यक्ति अपने भीतर इतने तूफान समेटे होगा।

"आपने अभी इतने सारे नाम गिनाये। अगर चाहूं भी तो क्या मैं यह खर्च उठा सकता हूं ? कालेज की फीस, परीक्षा की फीस, किताबें, कॉपियां, बस का किराया—इन सबके बारे में सोचकर देखिए। कहां से आयेगा इतना रुपया, कौन देगा ?"

"मैं दूंगी।"

वे तो क्या स्वयं मैं भी चौंक पड़ी। यह अनजाने में ही क्या कह गयी मैं ? अनजाने में भले ही हो, पर अनचाहे नहीं कहा था, इसीलिए पछतावा भी नहीं हुआ।

२

सोमवार की सुबह आफिस जाने से पहले मैं पंडित जी के यहां गयी। पिछवाड़े आंगन में जाड़े की धूप सेंकते हुए दोनों शिव-पार्वती की तरह पास-पास बैठे थे। पंडित जी अखबार पढ़ रहे थे। और जिया मटर छील रही थीं। मैंने मिठाई का डिब्बा सामने रखकर दोनों के पैर छू लिये।

"काहे की मिठाई है?"

"जिया, मेरी नौकरी लग गयी है।"

"नौकरी? हम तो समझे कि तुम्हारी सगाई हो गयी है।"

"अजीब अहमक हो, सगाई की मिठाई देने क्या वह खुद आती?" पंडित जी ने एकदम झिड़क दिया तो जिया कटकर रह गयीं। उन्हें उबारने के लिए मैंने कहा, "आज ही ज्वाइन कर रही हूं। आप लोगों का आशीर्वाद लेने आयी हूं।"

"बैठी मुंह क्या ताक रही हो? जाओ, ठाकुर जी को भोग लगाकर ले आओ। लड़की प्रसाद लेकर जायेगी," पंडित जी फिर झुंझलाये। मिठाई का डिब्बा उठाकर जिया बेचारी भीतर चली गयीं।

"अब आपको मेरे लिए रविवार को समय निकालना पड़ेगा," मैंने कहा, "या कहें तो शनिवार की शाम को भी आ सकती हूं, क्योंकि बैंक में शनिवार की आधी छुट्टी रहती है।"

"अरे भई, क्या करने लग गयीं?" पंडित जी ने जिया को आवाज दी, "जल्दी ले आओ। उसे दफ्तर जाना है।"

उनके उस आदेश में मेरे लिए व्यग्रता भले ही रही हो, पर स्वर में केवल पिंड छुड़ाने का-सा भाव था। तब पहली बार मैंने लक्ष्य किया कि जब से आयी हूं, वे मुझसे एक शब्द भी नहीं बोले हैं।

"पंडित जी!"

उन्होंने केवल मेरी तरफ देखा।

"आप··· आप··· नाराज हैं?"

"नहीं तो, हम क्यों किसी से नाराज होने लगे!"

"किसी से हों, न हों, मुझसे तो हो ही सकते हैं। आप मेरे बड़े हैं, मेरे गुरु हैं। अगर अनजाने में कोई भूल हो गयी हो तो कान पकड़कर बताने का हक आपको है।"

"नहीं बिटिया, अब वह बात नहीं रही।"

"क्यों? क्यों नहीं रही?"

"अगर हम तुम्हारे कुछ होते तो तुम एक बार कम-से-कम पूछ ही लेती। एकदम मिठाई लाकर सामने न रखतीं।"

मैं एकदम जैसे आसमान से गिरी। शर्म से मैंने सिर झुका लिया। सच—यह मुझे क्या हो गया था! जिस नौकरी के लिए पहले इतनी उदासीनता थी, उसी के लिए इतनी व्यग्र हो उठी कि इतनी साधारण-सी बात भी याद न रही। मां ने याद न दिलाया होता तो शायद मिठाई लेकर भी नहीं आती।

ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। उनकी अनुमति लिये बिना मंच पर तो कभी गयी ही नहीं, कालेज की पिकनिक या किसी रिश्तेदार की शादी में भी जाना होता तो पहले उनसे आज्ञा ले लेती। मेरी इस गुरुभक्ति का घर में अकसर मजाक उड़ता।

संध्या भाभी नयी-नयी शादी होकर आयीं तो ये चर्चाएं सुनकर बड़ी उत्सुक हो उठी। एक दिन जिद करके मेरे साथ हो ली। मां ने कहा भी कि इस तरह नयी-नवेली बहू का औचक चला जाना अच्छा नहीं लगता। पर मैंने मना नहीं किया। मैं उनके अपेक्षा-भंग का मजा लेना चाहती थी। सच बेचारी इतनी निराश हुई। अच्छी-खासी मासिप का मजा हाथ से निकल गया।

"कनु..."

"जी !"

"ऐसी क्या मजबूरी आ गयी थी बेटे ? हमसे कहा होता !"

"दरअसल—भैया की बहुत इच्छा थी। परीक्षा देने गयी थी, तब आपसे कहा भी था।"

"हां, शायद बताया था तुमने।"

"उनका मन रखने के लिए परीक्षा दे दी थी। अब सेलेक्शन हो गया है तो वे कहते हैं कि चांस छोड़ना बेवकूफी है। आप तो जानते हैं—बाबू जी के बाद अब भैया ही घर के बड़े हैं। उनकी बात रखनी पड़ती है।"

इसके बाद पंडित जी कुछ नहीं बोले। पर मेरा मन ग्लानि से भर उठा। सारे रास्ते मैं अपने को धिक्कारती रही। छिः, अपने पितृतुल्य बड़े भाई पर यह कैसा आरोप जड़ दिया मैंने ! अपने ऋषितुल्य गुरु से कैसे झूठ बोल गयी मैं ! बड़े भैया ने तो कभी किसी बात के लिए जोर नहीं दिया। वे तो बेचारे डरे-डरे-से ही रहते हैं कि मुझे और अम्मां को कोई बात चुभ न जाये। हम दोनों को वे ही तो झेल रहे हैं। बाकी दोनों ने तो बड़ी आसानी से पीछा छुड़ा लिया है। कपिल भैया के पास बंबइया छोटे मकान का शाश्वत बहाना है। सुनील भैया दिल्ली की महंगाई का रोना रोते रहते हैं। नीता भाभी तो साफ कहती हैं कि जब बड़े भैया पैतृक मकान का आनंद उठा रहे हैं, तो जिम्मेदारियां भी भुगतें।

मेरे लिए रविवार की दोपहर में दो से चार तक का समय निश्चित हो गया।

पहले दिन से ही लगा कि पंडित जी कुछ खिंचे-खिंचे-से हैं। सात-आठ साल साथ रहने के बाद गुरु-शिष्य के बीच जो सामंजस्य पनपता है, वह कहीं से टूटता नजर आया।

फिर कुछ मैं भी उखड़ी-उखड़ी-सी रहती। मनोज उन दिनों एक अलग कमरा लेकर तिलक नगर में रहने लगे थे। रविवार की शाम मैंने उनके नाम कर दी थी। तानपूरे पर उंगलियां फेरते हुए मैं अकसर प्रतीक्षा की

घड़ियाँ गिनती रहती। शरीर यहां होता, पर मन हवाओं से बात करता हुआ प्रियतम के पास पहुंच जाता था। इसीलिए पंडित जी एक-एक चीज कई बार समझाते, फिर भी मेरी पकड़ में न आती। तब वे अक्सर झुंझला उठते थे।

उस दिन मालकौंस का रियाज हो रहा था। अमीर खां साहब की बड़ी प्यारी-सी बंदिश जिनके मन राम बिराजे मैं कहीं से लिखकर ले आयी थी और उसे गले में बैठाने का प्रयास कर रही थी। पंडित जी बड़ी तन्मयता से मुझे उस शैली की बारीकियां, खूबियां समझा रहे थे। पर मेरा दिमाग उस समय नौसिखियों से भी गया-गुजरा हो रहा था। बार-बार स्वर फिसलकर शुद्ध निषाद पर ही आ टिकता था। दो-तीन बार पंडित जी ने टोका भी, "बेटे, यह चंद्रकौंस नहीं है," पर जैसे मैं पहली बार सा-रे-गा-मा सीख रही थी।

जब तीन-चार बार इसी की पुनरावृत्ति होती रही तो उनकी भी सहनशीलता जवाब दे गयी। "बस करो," वे चीखे, "तानपूरा रख दो और दफा हो जाओ। जब दिमाग ठिकाने रहा करे तभी यहां आया करो। वरना मेरा समय खराब करने की जरूरत नहीं है।"

अपमान से मेरे आंसू निकल आये। पंडित जी की डांट पहली बार नहीं खायी थी। पर कनिष्ठ छात्रों के सामने वे हमेशा वरिष्ठ शिष्यों की गरिमा बनाये रखते थे। आज उन्हें इसका भी भान न रहा। मेरे पीछे अपनी बारी की प्रतीक्षा करती हुई गिरिजा और शोभा बैठी थी। उनकी तरफ देखने का मुझे साहस नहीं हुआ। वैसे ही सिर झुकाकर चली आयी।

अपने उस अपमान की बात मैंने किसी को नहीं बतायी। मनोज को भी नहीं। उस शाम मैं बुझी-बुझी-सी रही तो वे मुझसे कुरेदकर पूछते रहे। पर मैंने कुछ नहीं बताया। बताती भी तो वे शायद समझते नहीं।

अगले रविवार को जब ढाई बजे तक लेटी हुई मैं उपन्यास पढ़ती रही तो मां ने टोका, "आज जाना नहीं है?"

"न।"

"क्यों?"

मां के इस प्रश्न पर इतने दिनों का बंधा अवसाद

मां चुपचाप सुनती रहीं। फिर मेरे चुप होते ही बोलीं, "इसका मतलब है कि अब तुम बहुत बड़ी हो गयी हो। तुम्हें डांटने का भी अब किसी को अधिकार नहीं रहा।"

मैं हैरत से उनका मुंह ताकती रह गयी।

"देख कनु, मैं अनपढ़ सही, पर इतना जानती हूं कि विद्या गुरु के चरणों में बैठकर ही पायी जाती है। तू अगर उनसे ही अभिमान करने लगेगी तो इतने दिन का सीखा हुआ भी मिट्टी हो जायेगा।"

उस दिन मां ने ठेल-ठालकर मुझे भेजा। मैं मुंह फुलाये ही घर से निकली थी और उसी मुद्रा में जाकर बैठ गयी। लेकिन पंडित जी हमेशा की तरह अपने वत्सल स्वरूप में थे। मुझे देखते ही बोले, "तबीयत तो ठीक है न, बिटिया? चेहरा इतना उतरा हुआ क्यों है?"

"कुछ नहीं—चलकर आयी हूं न, इसलिए।"

उन्होंने जिया को आवाज देकर मेरे लिए शरबत बनाने को कहा। फिर मेरे संकोच को अनदेखा करते हुए बोले, "मैं पहले ही जानता था कि ऐसा होगा।"

"हफ्ते-भर दफ्तर में मगजमारी करने के बाद गाना सीखने लायक दम-खम तुममें नहीं है। कोई लड़का होता तो शायद निभा ले जाता। पर यह तुम्हारे बस की बात नहीं है।"

"लेकिन पहले भी तो हफ्ते में दो ही दिन सीखती थी।"

"पर बाकी दिनों में तुम स्वतंत्र तो थीं। तुम्हारा मन कहीं भटकता तो नहीं था। तुम्हारी शक्ति कहीं और तो खर्च नहीं होती थी। यह तो साधना की डगर है बेटा, शक्ति भी चाहिए और लगन भी। इस तरह दो नावों पर पैर रखकर चलोगी तो बड़ी मुश्किल होगी, तुम्हारे लिए भी और मेरे लिए भी।"

"बहुत आशाएं लगायी थीं तुमसे," वे उसांस भरकर बोले, "तुम्हारे पिता जी से मांग लिया था मैंने। उन्हें वचन दिया था कि बिटिया को एक दिन संगीत-शिरोमणि बनाकर रहूंगा। पर अब लगता नहीं है कि मेरा वह कौल कभी पूरा होगा।"

उनके स्वर में घोर हताशा थी। जैसे ८-१० साल की तपस्या पर किसी ने पानी फेर दिया हो।

आठ-दस साल पहलेवाली वह बात याद हो आयी। बाबू जी रिटायर हो गये थे और हम सब अपना सामान समेटकर भैया के पास आ गये थे। शहर के स्कूल का एक हौवा-सा मन में था। पर बहुत जल्दी ही मैंने अपना सिक्का जमा लिया। लड़कियां मेरे कपड़ों का मजाक बनाती, मेरी भाषा की नकल उतारती पर एक तुरुप चाल मेरे पास भी थी—मेरी आवाज। महीने-दो महीने में ही मैंने कई फैन जुटा लिये थे।

स्कूल के वार्षिकोत्सव में पहली बार मंच पर जाने का अवसर मिला। सुगम संगीत की प्रतियोगिता थी। मुझे तो नया कोई गीत याद भी नहीं था। वही पुराना-सा—'घूंघट के पट खोल' ही गा दिया और बाजी मार ली। प्रथम पुरस्कार के लिए जब मेरे नाम की घोषणा हुई तो कितनों के चेहरे देखने लायक हो गये थे।

निर्णायकों में एक बुजुर्ग-से व्यक्ति भी थे। कार्यक्रम की समाप्ति पर उन्होंने पास बुलाकर शाबाशी दी, नाम पूछा, फिर बोले, "गाना सीखोगी?"

"गाना?"

"हां;—अगर सीखना चाहो तो अपने पिता जी से कहना, मुझसे मिल लें।"

उनका बताया पता रटते हुए ही मैं घर पहुंची। रात-भर खुशी के मारे नींद नहीं आयी। दूसरे दिन सुबह-सवेरे मैं बाबू जी को घसीटकर सेठ रामदास जी की बगीची में ले गयी। वहां बीचोंबीच श्री रघुनाथ जी का सुन्दर मंदिर था। छोटा-सा, किंतु सुन्दर-सा। सफेद पत्थर पर रंगीन नक्काशी थी। फर्श पर काले-सफेद संगमरमरी चौकोर टुकड़े जड़े हुए थे। युगल जोड़ी की मूर्तियां तो इतनी सुन्दर थी कि आंख टिकी रह जाती थी।

हम लोग पहुंचे, उस समय आरती हो रही थी। बाहर इक्का-दुक्का दर्शनार्थी खड़े थे। भीतर कलवाले सज्जन रेशमी धोती पहने आरती उतार

रहे थे। बाबू जी तो उन्हें देखकर ही गद्गद हो गये। प्रसाद लेकर जैसे ही बाकी भक्तगण विदा हुए, बाबू जी ने आगे बढ़कर उन्हें दंडवत् किया और बोले, "महाराज, मैं काशीनाथ दूबे हूं। कल बिटिया के हाथ आपने संदेश भेजा था।"

मुझे देखकर पंडित जी को सब याद हो आया। प्रसन्न होकर बोले, "अच्छा, तो आप हैं! वाह भाई साहब, मैं तो आपको बधाई देना चाहता हूं। आपके घर में साक्षात् सरस्वती ने जन्म लिया है। मैं इतने दिनों से बच्चों को सिखा रहा हूं, सुन रहा हूं। पर यह बात कभी-कभी ही देखने में आती है। मैं तो चाहूंगा कि आप इसे मुझे सौंप दें।"

"यह तो कन्या का अहोभाग्य होगा, महाराज," बाबू जी हाथ जोड़कर बोले, "लेकिन मैं रिटायर्ड आदमी हूं। खुद बच्चों के भरोसे हूं।"

"मैंने आपसे कुछ और तो नहीं मांगा, भाई साहब। बस, बिटिया को मांग रहा हूं। पैसे देने वाले विद्यार्थी तो बहुत मिल जाते हैं, पर संतोष देने-वाला एकाध मिलता है। और फिर मैं पैसे के लिए सिखाता भी नहीं। हम कुल दो प्राणी हैं। पेंशन में मजे से गुजारा हो जाता है। सेठ जी के कुल-देवता की सेवा का भार ले लिया है। उनकी कृपा से सिर पर छत बनी हुई है। अब तो बस यही इच्छा है कि जो कुछ अपने गुरु से पाया है, वह शक्ति-भर औरों को देकर जाऊं।"

बाबू जी ने बटुआ खोलकर ग्यारह रुपये निकाले और कहा, "बेटे, गुरु जी के चरण छुओ।"

"यहां नहीं, घर चलिए," कहते हुए वे हमें पिछवाड़े ले गये। साफ-सुथरे, लिपे-पुते दो कमरे थे। बाहरवाले कमरे में तबलों की चार-पांच जोड़ियां, चार-पांच तानपूरे और दो हारमोनियम रखे हुए थे। बीचवाली दीवाल के पास एक बड़ी-सी चौकी थी। उस पर किसी साधु-महात्मा की तसवीर रखी हुई थी। उस पर चढ़ाया फूलों का हार ताजा ही था। वातावरण में अगरबत्ती की सुगंध व्याप्त थी।

भीतर की ओर मुंह करके उन्होंने दो कप चाय लाने का आदेश दिया और फिर मुझसे बोले, "पहले इन्हें प्रणाम करो बिटिया; ये गुरु महाराज हैं।"

गुरु महाराज को प्रणाम करने के बाद मैंने उन्हें प्रणाम किया। कुछ श्लोक-सा गुनगुनाकर उन्होंने आशीर्वाद दिया, जो मेरी समझ में नहीं आया। तब तक भीतर से चाय आ गयी।

"ये तुम्हारी गुरुमाता हैं बिटिया," पंडित जी ने बताया। बाबू जी का इशारा पाकर मैंने उनके भी पैर छू लिये।"

"का नाम है बिन्नू तुम्हारो ?" खूब आगे तक सिर ढके हुए ही उस महिला ने पूछा। उस कच्ची उम्र में भी यह बात चुभे बिना नहीं रही कि ऐसे सुरीले व्यक्ति की यह कैसी बेसुरी पत्नी है !

•

घर लौटते ही माँ ने तूफान खड़ा कर दिया।

"कुछ समझते हैं न सोचते हैं, बस जो मन में आयेगा, कर गुजरते हैं। यह भी होश नहीं रहा कि लड़की अब बड़ी हो रही है। उसे किसी उस्ताद के पास मैं नहीं भेजने की—साफ कहे देती हूं। ये सारे संगीत मास्टर एक नंबर के लफंगे होते हैं !" और लगे हाथों मां ने दर्जनों किस्से सुना डाले जो उन्होंने भी कहीं से सुन रखे थे।

मां ने तो एक तरह से वह प्रसंग समाप्त ही कर दिया था पर मैं ही जिद पर अड़ी रही। मां को हार माननी ही पड़ी। पहले दिन वे स्वयं मेरे साथ गयीं। पंडित जी की सौम्य, शांत, सात्त्विक मुद्रा देखकर वे आश्वस्त ही नहीं, अभिभूत हो गयीं। पर जिया को देखकर तो एकदम ही रीझ गयीं। किसी भी प्रसाधन की अपेक्षा न रखनेवाला उनका दमकता रंग, वयस को झुठलानेवाली कांति, तीखे नाक-नक्श—ऐसा अनिंद्य रूप-रंग मैंने भी जीवन में पहली बार देखा था।

वहां से लौटते हुए मां बार-बार उसांस भर रही थीं, "भाग्य का खेल है सब। ऐसा रूप तो रजवाड़ों के यहां भी मुश्किल से दिखाई देता है। और बेचारी इस पंडे-पुजारी बाबा के यहां झाड़ू-बुहारी कर रही है।"

मां की सहमति मिल जाने के बाद फिर कोई रुकावट नहीं रही और मेरी विधिवत् शिक्षा प्रारंभ हो गयी। साल-भर तो वे केवल भजन सिखाते रहे। कोई ८-१० भजन इस बीच मैंने याद कर लिये। पंडित जी कहते,

"कई लोग साल-दो साल सीखकर छोड़ देते हैं। उस समय उनके पास गुरु की नामलेवा कुछ तो पूंजी होनी चाहिए।"

एक वार गला अच्छी तरह से मांज लेने के वाद ही उन्होंने रागदारी में प्रवेश किया। उस समय उनके पास कोई २०-२५ शिष्य थे। पांच से लेकर ४५ वर्ष तक के ये स्त्री-पुरुष वंधे-वंधाये समय में उनके पास आते थे। पंडित जी सव पर एक-सी मेहनत करते थे। पर शीघ्र ही सब जान गये कि मुझ पर उनकी विशेष कृपादृष्टि है। एक-एक स्वर को मेरे गले में बिठाने के लिए वे जान लगा देते। एक-एक तान जव तक ठीक से न उतरती, वे चैन से न बैठते। एक-एक हरकत के लिए वे खुद ही हलकान होते, मुझे भी थका डालते। पर दोनों तरफ जोश वरावरी का था, इसलिए थकन नहीं होती थी।

समय और दिन तो मेरे लिए भी नियत था। पर मैं जव जी चाहे, चली जाती थी। दूसरों को सुनना मुझे अच्छा लगता था। और मेरा यह उत्साह पंडित जी को अच्छा लगता था। कई वार किसी कठिन जगह को वरिष्ठ छात्र वार-वार प्रयत्न करने पर भी पकड़ नहीं पाते। वाद में मैं वड़ी आसानी से उसे छू आती। पंडित जी निहाल हो जाते। अपनी परख पर उन्हें गर्व हो आता।

वे वड़े इत्मीनान से मुझे सिखा रहे थे। वे किसी शिल्पकार की तन्मयता से मुझे गढ़ रहे थे। मैं अभी से उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति होने का दंभ भरने लगी थी। पर उन्होंने मुझे भटकने नहीं दिया। शुरू के वर्षों में उन्होंने मुझे गाने की अनुमति नहीं दी। वोले, "इनाम तो तुम ले आओगी पर प्रशंसा का नशा अगर तुम्हें चढ़ गया तो फिर कुछ न सीख पाओगी।"

उन्होंने मुझे रेडियो पर जाने नहीं दिया, "दुनिया-भर के ओंगे-पोंगे वहां परीक्षक वनकर आते हैं। अगर आडीशन में फेल हो गयीं, तो मेरी वदनामी होगी। अगर पास हो गयीं तो वंधी-वंधाई लीक पर गाना शुरू कर दोगी। वही तीस मिनट का खेल, छोटा खयाल, वड़ा खयाल, आलाप, तान—गाओगी और सोचोगी, दुनिया वस, यहीं समाप्त हो जाती है।"

तीन साल वाद पहली वार उन्होंने मुझे भातखंडे जयंती पर गाने की अनुमति दी। उस दिन जिन-जिन लोगों ने मुझे सुना, स्तब्ध रह गये। पंडित

जी के पास बधाइयों का तांता लग गया। रात को माँ ने मुझ पर से राई-नोन उतारा था। वह मेरी पहली विजय थी, मेरी जय-यात्रा का पहला पड़ाव था।

दूसरे दिन समाचारपत्रों में मेरा नाम फोटो के साथ छपा था। उन दिनों बी० ए० में पढ़ रही थी। हुलसते हुए ही कालेज पहुंची। अब तक किसी ने मेरा नोटिस नहीं लिया था। अब सब जान जायेंगे कि मैं भी कुछ हूं।

सहपाठियों ने मेरा स्वागत विचित्र ढंग से किया। लड़कियों ने मुझे देखते ही नजरें झुका लीं। पर कई लड़कों के चेहरे शरारत से मुस्करा उठे। अपनी सीट पर बैठते हुए मैंने देखा, ब्लैकबोर्ड पर मेरी अखबारवाली फोटो चिपकी है। उसके नीचे चाक से लिखा हुआ है :

'कोयल काली होती है'

इतनी दारुण अवमानना जीवन में पहली बार सही थी। सारा दिन मैं सिर ऊपर न उठा सकी।

शाम को पंडित जी के यहां पहुंची तो वे उस समय भी गद्गद थे। जिया से वैसे वे संगीत-चर्चा कम ही करते थे, पर मगन भाव से गेहूं फटकती हुई जिया से उन्होंने कहा, "कल तुम्हारी इस चिड़िया ने क्या बसंत गाया था। वाह ! सबके चेहरे फक हो गये !"

"पंडित जी," मैंने गंभीर होकर कहा, "आपने मुझसे बसंत ही क्यों गवाया ? मैं कोयल की तरह काली हूं, इसलिए न !"

"यह क्या कह रही हो कनु ?" वे हैरान थे। मैंने सुबकते हुए उन्हें सारी बात बता दी। मेरी बात सुनकर वे बोले, "उन्होंने तुम्हें कोयल कहा है न ! तुम्हारे स्वर के सौंदर्य को तो वे लोग अनदेखा नहीं कर सके। बस, इसी का लोहा सबसे मनवाना है —और वे एक दिन मानेंगे।"

तब मैंने सोचा कि शायद बाबू जी ने यही कुछ सोचकर मुझे उनके चरणों में डाल दिया था।

३

बहुत दिनों बाद एक फुरसतवाला रविवार मिला था। मनोज चार-पांच दिन के लिए घर गये हुए थे। नौकरी के बाद वे पहली बार अपने परिवार से मिलने गये थे। वह भी इसलिए के पालिटेकनिक में उनका दाखिला हो गया था। उन्हें मालूम था कि सेशन शुरू होने के बाद फिर वे इतना समय न निकाल पायेंगे।

मुझे लौटने की कोई जल्दी नहीं थी। इसीलिए पंडित जी के पास से उठने पर मैं जिया के पास आ बैठी थी। पहले दिन जिया मुझे बहुत बेसुरी लगी थीं। पर जैसे-जैसे परिचय बढ़ता गया, मैं उनके स्वभावगत माधुर्य से परिचित होती गयी। उनकी बोली में मुझे अपने ननिहाल की सोंधी गंध आती। इतने सालों तक महानगर में रहने के बावजूद न तो उनकी भाषा बदली थी, न स्वभाव। उनके निश्चल वात्सल्य की छांह में दो घड़ी बैठ लेना बहुत अच्छा लगता था।

बहुत दिनों बाद सुयोग बना था इसलिए बातें थीं कि खत्म ही नहीं हो रही थीं। तभी पंडित जी ने आवाज दी, "इधर देखो, कौन आया है?"

और इससे पहले कि हम उठकर देखते, एक गोरी-चिट्टी महिला भीतर प्रविष्ट हुई। उन्हें देखते ही जिया बांहें पसारकर उठ खड़ी हुईं और उन्हें अंक में भर लिया। गले मिलते ही दोनों ने जो विसूरना शुरू किया कि बाहर का सुरीला शोर अपने-आप थम गया।

जिया के साथ मैं भी उठकर खड़ी हो गयी थी और अब असमंजस में

थी कि क्या करूं। वह रुलाई खुशी की थी या दुख की, यह भी समझ में नहीं आ रहा था। इसीलिए चुपचाप खिसक लेना भी अच्छा नहीं लग रहा था। जब कुछ भी समझ नहीं पड़ा तो मैंने वह दाल समेटनी शुरू कर दी जो मैं जिया के साथ बिनवा रही थी। बिनी हुई दाल डिब्बे में भरकर यथास्थान रख आयी। अनबिनी दाल पतीली में रखकर उस पर थाली ढक दी। बोरी उठाकर पिछवाड़े आंगन में फटकारकर रख दी।

इस बीच वह युगल रुदन थम गया था और दोनों बैठ गयी थीं। [illegible] धोकर मैंने दो गिलासों में पानी डाला और उनके सामने रखते हुए [illegible] "जिया, चाय बनेगी?"

जिया को जैसे अब मेरी उपस्थिति का भान हुआ। हुलसते हुए [illegible] "कल्लू, जे हमाई छोरी है, मनोज की अम्मां।"

आश्चर्य है, मुझे पहले ही यह खयाल क्यों न आया? [illegible] कितना तो साम्य है! बस, जिया के भाल पर दिप-दिप [illegible] बिंदी-भर नहीं थी।

"कल्लू," वे जैसे चौकन्नी हुईं, "मतलब, कल्याणी"

"हां—जेई नाम है। हमपे तो लेवई न बनत।"

"तो यही हैं वो हुस्नपरी, जिन पे मुन्ना राजा मरे जा रहे हैं"

हम दोनों अवाक।

"वाह जिया! खूब देख-भाल की भाजे की। हम तो यहां [illegible] बैठे रहे। तुमने हमारे घर में आग लगा दी।"

"ऐसो का हो गयो?"

"अब होने को बाकी ही क्या रह गया है! हम तो मनझले के [illegible] गाना-भर सिखाते हैं। पर हमें क्या पता था कि वे प्रेम-प्यार की [illegible] खोले बैठे हैं। ये गवैये-बजवैये सब एक-से होते हैं। इसी [illegible] अम्मा ने हमें कभी तुम्हारे पास नहीं भेजा।"

"और अब किसकी भेजी हुई आयी हो?" पंडित जी [illegible] होकर एकदम दहाड़े तो मैं कांप-सी गयी। पर आगंतुक पर [illegible] हुआ, उतनी ही कड़कदार आवाज में जवाब देते हुए बोलीं, [illegible] भेजा है। यह गधा इस पद्मिनी से ब्याह रचाना चाहता है। [illegible]

चार महीनें भी पूरे नहीं हुए और उसके पंख निकल आये हैं। यह भी होश न रहा कि घर में जवान वहन कुआंरी बैठी है।"

"यह तुम्हारा अपना मामला है, घर में निपटो। यहां गालियां वकने क्यों आयी हो?"

"गाली किसने दी? खरी बात कह रही हूं, तभी तो लग रही है। आपकी शह मिलती रही है तभी तो उसकी यह हिम्मत हुई है, नहीं तो आज तक उसने कभी किसी की ओर आंख उठाकर नहीं देखा। और अव आंख पड़ी भी तो किस पर, हुंह!" शब्दों में जितनी घृणा उड़ेल सकती थीं, उतनी उड़ेलकर उन्होंने मुंह विचका दिया।

पंडित जी दरवाजे में खड़े थे इसीलिए इतनी देर लिहाज किये रही। पर जव सव असह्य हो उठा तो उन्हें परे धकियाकर मैं वाहर निकल आयी।

मनोज पर इतना गुस्सा आ रहा था। इतना वड़ा निर्णय लेने से पहले मुझसे पूछा तो होता। क्या यह सोचा था कि मैं तो एक पांव पर तैयार खड़ी हूं, उनके कहने-भर की देर है?

वैसे उन्होंने गलत नहीं सोचा था। पिछले कुछ दिनों से यही सपना मैं वार-वार देख रही थी। पर हर लड़की की तरह मैंने भी चाहा था कि यह वात कोई मेरे कानों मे मधुवंती की मदिर स्वरावलि में गुनगुनाकर कहे। यह क्षण मेरे जीवन में वासंती हवा का झोंका बनकर आये। यह पल मेरे मन के आकाश में शरद पूनों की चांदनी वनकर उतरे। प्राण-पांवड़े विछा-कर मैं उस मदिर क्षण की प्रतीक्षा करती रह गयी—और कोई जैसे मुंह पर थूककर चला गया।

और अव यह मुंह लेकर पंडित जी का सामना कैसे करूंगी? क्या सोचा होगा उन्होंने? उनके अकृत्रिम स्नेह का मैंने यही प्रतिदान दिया है? उस अजातशत्रु को मेरे कारण आज क्या-क्या न सुनना पड़ा!

रविवार की शाम अपने पूरे यौवन पर थी। सड़क पर वाहनों का रेला-सा वह रहा था। मन तो हुआ कि कूद पड़ूं किसी गाड़ी के आगे। सारा किस्सा ही खत्म हो जाये। पर एक और वेवकूफी करके मैं अपने ऋषितुल्य गुरु को

और संताप देना नहीं चाहती थी। फिर इस अभागे देश में क्वारी लड़की का मरना भी तो निरापद नहीं है। सौ विवाद उठ खड़े होंगे। मा-भैया कहीं मुंह दिखाने लायक न रहेंगे।

और फिर इस तरह चुपचाप मरने से फायदा। एक बार मनोज से जवाब तलब तो करना ही है। मेरा इस तरह अपमान करने का उन्हें क्या हक था!

बैंक से लौटकर चाय पी रही थी कि नीता ने आकर बताया, "बुआ, पंडित जी आये हैं।"

हिम्मत जुटाकर उनके सामने पहुंची। उस समय वे ड्राइंग रूम में भैया के साथ बैठकर चाय पी रहे थे। मुझे देखते ही सहज भाव से बोले, "इधर से निकला तो एकदम याद आ गया। कल तुम मंदिर जाने को कह रही थी न!"

मना करने का कोई सवाल ही नहीं था।

पूरे रास्ते कोई एक शब्द भी नहीं बोला। मंदिर पहुंचकर मैंने बेमन से प्रणाम किया और बाहर चबूतरे पर आकर बैठ गयी। पंडित जी निर्लिप्त भाव से आराधना करते रहे। गर्भगृह में खड़े होकर उन्होंने अपने गुरु-गंभीर स्वर में शिव-महिमा का पाठ किया, अपनी नियमित परिक्रमाएं पूरी की। फिर सबकी 'जै राम जी की' लेते हुए मेरे पास आकर बैठ गये।

जिसके लिए आतंकित थी, वह क्षण सामने आ गया था।

"कनु," उन्होंने पूछा, "कल वाली बात क्या सही है?"

उत्तर में मैंने सिर झुका लिया। जवाब देती भी तो क्या? कैसे कहती कि मेरी मनोज से इस संबंध में कभी कोई बात नहीं हुई। अगर कह भी देती तो क्या वे विश्वास कर लेते? क्या कभी मैंने भी यह सोचा था कि इतनी बड़ी बात मेरी सहमति के बिना ही कह दी जायेगी?

"एक बात और पूछूंगा बेटे—तुम मनोज के रूप-रंग पर रीझी हो? या और कोई बात है।"

मैंने इस बार भी उत्तर नहीं दिया। कैसे कह देती कि मैं तो इसलिए

रीझी हूं कि कोई पहली बार मुझ पर रीझा है। पहली बार किसी पुरुष ने मुझे नारी रूप में देखा है। पहली बार किसी ने मेरे व्यक्तित्व को एक नया आयाम दिया है। पहली बार मेरा अस्तित्व गानेवाली गुड़िया से कुछ ऊपर उठा है।

"उस घर में तुम्हारा स्वागत कैसे होगा, इसकी झलक तो तुम्हें मिल ही गयी होगी।"

"जी," मैंने अस्फुट स्वर में कहा।

"अच्छा हुआ जो कल तुमने अपनी होनेवाली सास का स्वाभाविक रूप देख लिया। यह भ्रम कभी मत पालना कि वह तुम्हारी जिया की सगी बहन है। दोनों के स्वभाव में कोई साम्य नहीं है। वह तो साक्षात् चंडिका है। सारा घर उसके आतंक के साये में पलता है। पति भी जब तक जीवित रहा, डरा-डरा रहा। उसके परिवार से उसे ऐसा काट दिया था कि जिंदगी-भर बेचारा अकेलेपन की व्यथा में घुलता रहा। बड़ी बेटी के ससुरालवालों से ऐसी ही ठनी हुई है। बेचारी के लिए पीहर का रास्ता ही बंद हो गया।"

"लेकिन आप यह सब मुझे क्यों सुना रहे हैं?" मन अपने-आप प्रश्न करने लगा था।

"तुम शायद सोच रही हो कि मैं यह सब क्यों सुना रहा हूं," उन्होंने जैसे मेरा मन पढ़कर कहा, "मैं तो तुम्हें केवल आगाह करना चाहता हूं कि लड़का मां के रौब में है, उसकी मर्जी के बिना वह कुछ भी नहीं करेगा। तुम दोनों की भावनाओं में कितनी गहराई है, यह भी मैं नहीं जानता। पर यह जरूर कहूंगा कि मनोज कस्बे के कालेज का पढ़ा हुआ गंवई युवक है। ऐसे लड़कों के लिए लड़कियां एक अजूबा होती हैं। उनसे हंसना-बोलना तो दूर, वे आंख उठाकर देख भी नहीं पाते। उसके घर के वातावरण के संबंध में बता ही चुका हूं।

"पहली गार उसने यहां आकर खुली हवा से सांस ली है। संयोग समझ लो कि इसी समय तुमसे परिचय हो गया।—मैं अपनी कोई राय तुम पर थोपना नहीं चाहता। लेकिन कोई भी निर्णायक कदम उठाने से पहले तुम्हें आगाह जरूर करना चाहता हूं। यह मेरा कर्तव्य है।"

मनोज छुट्टी से लौटे तो इतने उदास और बुझे-बुझे-से थे कि सारा गुस्सा पानी हो गया। पंडित जी की बात याद हो आयी। सचमुच बेचारे आतंक के साये में जीते रहे हैं। तभी तो मां की बमबारी को सिर झुकाकर झेल गये होंगे। मुझे तो आश्चर्य है, अपने मन की बात कहने का साहस कहां से जुटाया होगा इन्होंने? शायद यह मेरी संगत का प्रभाव हो। इसके बाद हिम्मत जवाब दे गयी होगी। तभी तो ऐसे लुटे-पिटे-से लौटे हैं। अपने ही बच्चों के व्यक्तित्व को इतना कुंद बना देने में उस औरत को न जाने क्या सुख मिला होगा! पंडित जी ने ठीक कहा था, 'यहां आकर पहली बार उसने खुली हवा में सांस ली है।' पहली बार परिचय हुआ था, तब मैं एक तरह से चौंकी ही थी। पहली भेंट में कोई इतना कैसे खुल जाता है? पर अब समझ में आ रहा है कि जिन्हें घर में मुंह खोलने का अवसर नहीं मिलता, वे बाहर ऐसे ही चहकते रहते हैं।

इनके घर के माहौल से मुझे यों कुछ लेना-देना नहीं था। पर इस समय तो मेरी अपनी खुशी, अपनी जिंदगी दांव पर लगी हुई थी। मैंने समझ लिया था कि यह व्यक्ति इतना दब्बू है कि अपने सुख-दुख की बात भी स्वतंत्र होकर सोच नहीं सकता। यदि मेरा सुख-दुख भी इनके साथ नत्थी है तो इसके लिए भी मुझे ही सोचना पड़ेगा।

और मैंने एकबारगी सोच लिया।

मेरे इस आकस्मिक निर्णय से भाई लोग चौंक पड़े। अपनी इकलौती बहन के लिए उन्होंने इससे बेहतर घर-वर की कामना की थी। पर विरोध किसी ने नहीं किया। मां तो दामाद का रूप देखकर सारी हताशा भूल गयीं।

मनोज के परिवार में एक अम्मां जी भर थीं, जिनकी स्वीकृति की आशा थी ही नहीं। और रिश्तेदारों से तो पहले से ही ठनी हुई थी। एक बार अपना निश्चय मनोज के गले उतारने के बाद सारा काम आसान हो गया। पंडित जी बहुत प्रसन्न नहीं लगे। पर उन्होंने अपनी अप्रसन्नता भी जाहिर नहीं की बल्कि बरात उन्हीं के घर से चढ़ी। ससुराल की देहरी पर मेरा परछन जिया ने ही किया। इस बात को लेकर दोनों बहनों में सदा के

लिए गांठ पड़ गयी।

किसी की इच्छा-अनिच्छा, वैर-प्रेम की यहां परवाह ही किसे थी। आनन्द-पथ के दो यात्री सारी दुनिया को अंगूठा दिखाकर अपनी यात्रा पर चल पड़े थे।

सब कुछ सपना-सा लग रहा था।

अपने विवाह को लेकर कल्पना का ताना-वाना मैंने वुना ही नहीं था। इतना अवकाश ही नहीं मिला। मन सदा और-और वातों में उलझा रहा। यह प्रसंग जीवन में आंधी की तरह अकस्मात् उठा और मुझे अपने साथ वहाकर ले गया। पलक झपकते ही मैं मनोज को वरमाला पहना चुकी थी।

भैया ने वेमन से ही सही, जो सामान दिया था, उसे लेकर अपनी गृहस्थी का श्रीगणेश किया। विवाह वहुत प्रसन्न वातावरण में नहीं हुआ था। पर उससे हमारे उत्साह में कोई अंतर नहीं आया। समय पंख लगाकर उड़ चला था।

नौकरी मेरी भी थी। उनकी भी। शाम को वे क्लास भी जाते थे। वस उतनी ही देर को हम अलग होते थे। दिन तो दफ्तर में चला जाता था। पर शाम को घर पर अकेले रह जाना वहुत अखरता था, अपनी महती आकांक्षाएं तव मुझे ही जहर लगतीं। वह शाम का समय ही मेरे लिए फुरसत का समय होता था। कई वार मन होता—तानपूरा लेकर वैठ जाऊं, कुछ गा लूं, गुनगुना लूं। पर तभी रसोई की टेर सुनाई दे जाती। मां के यहां तो कभी चाय भी मैंने अपने मन से नहीं वनायी। पर इन दिनों पति को नित्य नये व्यंजन खिलाने का एक जुनून-सा सवार हो गया था। सुवह विस्तर से वाहर निकलते-निकलते नौ वज जाते थे। हावड़-तावड़ में चाय-नाश्ता भी ढंग का नहीं वन पाता था। पर शाम के खाने में मैं पूरी शक्ति लगा देती। रेडियो से, सहेलियों से, पत्रिकाओं से नयी-नयी विधियां सीखकर उनका प्रयोग करती रहती। वेचारे मनोज, मेरे इस अत्याचार को हंस-हंसकर झेलते। पति की प्रशंसा पाने का सुख उन दिनों मेरा सवसे वड़ा प्राप्य था।

रसोई से बचा समय इनके होमवर्क पर खर्च होने लगा, पता ही नहीं चला। स्वरलिपि लिखनेवाले मेरे हाथ बड़े मजे से कॉपियां भरने लगे। और मजे की बात तो यह कि मुझे उस शुष्क काम में भी अलौकिक काव्य नजर आने लगा। जीवन का रंग ही बदल गया। रविवार की दोपहर पंडित जी के यहां जाना एक भार लगने लगा। बड़ी आसानी से मैं दो-दो रविवार गोल कर जाती। वे भी मुझसे उदासीन-से हो गये थे। जाती तो निर्लिप्त भाव से कुछ बता देते। न पहले की तरह डांटते-फटकारते, न अनुपस्थिति की कैफियत तलब करते।

गाना बिलकुल ही छूट गया हो, ऐसी बात भी नहीं। बल्कि इतने दिनों तक मैं स्वरों के जंगल में भटक रही थी। सही सुर तो अब जाकर मिला था। इतने सालों से जो सीख रही थी, वे तो कोरे शब्द थे। उनका मर्म तो अब समझ में आया था। अब तक तो केवल गाती थी, अब मैं गीतों को जी रही थी।

सोलह शृंगार करके रोज अटरिया पर बैठकर पिय की बाट जोहा करती। उनके विरह में एक-एक पल युग-सा बीतता। वे जरा भी देर लगाकर आते तो रूठ जाती। कहती "जाओ, जहां इतनी रात बिताकर आये हो, वहीं लौट जाओ। अब यहां क्या लेने आए हो?" वे मनुहार करने लगते तो लड़ियाकर कहती, "अच्छा; जरा मेरी उलझी हुई लट तो सुलझा दो।" सेज चढ़ते हुए कभी बैरन पायल को कोसती, कभी कंगन को—जो झन-झनाकर मेरा रहस्य सब पर खोल देते हैं। ऐसे में अड़ोस-पड़ोस की जिज्ञासु औरतें मुझे बैरन सास और दुष्टा ननद से कम नहीं लगतीं। सुबह होती तो मेरी अलस नायिका कहती, "अब तो जरा-भर सो लेने दो, रात-भर तो तुमने आंख नहीं लगने दी···" मैं तो हैरान थी—उन रसिक मनीषियों ने कैसे-कैसे सरस प्रसंगों को शब्दों में बांध दिया था।

पहली राखी पर भैया मुझे लिवाने आये तो मैंने इन्हें भी ठेल-ठालकर घर भेज दिया। इनके मना करने के बावजूद रजनी के लिए एक अच्छी-सी साड़ी साथ रख दी। पर मेरा यह सद्भावना-मिशन फेल हो गया। दो दिन बाद ये लौटे तो बेहद उखड़े हुए थे। अपनी सारी खीज मुझ पर उतारते हुए बोले, "खुद तो अपनी मां के यहां बैठकर आराम फरमाती रहीं और मुझे

वहां भट्ठी में झोंक दिया। मैं तो जानता था, वहां जाकर क्या स्वागत होना है! बस चलता तो कभी वहां का रुख न करता। पर रानी जी की जिद थी न!"

पांच महीनों में पहली बार वे मुझसे इतने तिक्त स्वर में बोले थे। मैं समझ गयी कि इस व्यक्ति का प्यार जितना आक्रामक है, गुस्सा भी उतना ही भयानक है। फिर मैंने दीवाली पर कुछ नहीं कहा।

चार-पांच दिन की और छुट्टी लेकर हम लोग बंबई चले गये। शादी के बाद पहली बार बाहर निकले थे। रोज की आपाधापी से उबरकर मन तरोताजा हो गया। जेब की हालत जरा और अच्छी होती तो इस सुख का स्वाद और बढ़ जाता। फिर भी हमने इस नयी आजादी का भरपूर आनंद लिया।

पर घूमने का सारा मजा घर लौटते ही किरकिरा हो गया। अम्मां जी की एक बममार्का चिट्ठी हमारी प्रतीक्षा कर रही थी। पिछले अनुभव से ये इतने बिफर गये थे कि इस बार त्योहार पर न खुद गये, न रुपये भेजे। अम्मां जी का झल्लाना स्वाभाविक था। पर दुख इस बात का हुआ कि बेटे की लापरवाही का दोष बहू के सिर मढ़ दिया गया था।

"चलो, हम जाकर उन्हें मना लायें," मैंने कहा।

"नहीं, तुम वहां नहीं जाओगी," वे गुर्राये।

"तो तुम अकेले ही हो आओ।"

"नहीं, मैं भी नहीं जाऊंगा।"

"क्यों?"

"जहां तुम्हारा स्वागत नहीं हो सकता, उस घर में मैं पांव भी नहीं दूंगा।"

पति का यह ऐकांतिक प्रेम देखकर मैं गद्गद हो आयी। पर मेरे कारण वे अपने घर-परिवार से कट जायें, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। उन्हें शांत करते हुए मैंने कहा, "कभी उनकी ओर से भी तो सोचकर देखो। हर मां अपने बेटे के लिए एक सुंदर-सी बहू की कामना करती है। अम्मां जी ने भी की होगी। इसलिए उनका निराश होना स्वाभाविक है। हमें उनकी भावनाओं को समझने का यत्न करना चाहिए।"

"तो क्या करने को कहती हो ?" वे चीखे।

"हम लोग जाकर उन्हें लिवा ले आयें। मैं अपनी सेवा से उन्हें प्रसन्न कर लूंगी। वैसे भी अब उन दोनों के वहा रहने में कोई तुक नहीं है। रजनी की पढाई यहा भी हो सकती है—बल्कि और अच्छी तरह हो सकती है।"

"तुम सोचती हो, तुम्हारे बुलाने से ही वे आ जायेंगी ?"

"क्यो नही आयेंगी ?"

"शादी तक मे तो आयी नही। मिन्नतें कर-कर के हार गया मैं।"

"तो क्या हम वही गाठ मन मे लेकर बैठे रहें ? देखो मनोज, कुछ हमें भी भूलना होगा। उनका मान यदि तोड़ना है तो पहले हमें कुछ झुकना होगा। फिर देखना। कैसे चुटकी में सब काम होते हैं। क्योंकि मैं जानती हूं, अपना बेटा-बहू कोई हमेशा के लिए नही छोड़ देता।"

"तुम्हारा भ्रम है, वे बहुत नाकवाली हैं, नही आयेंगी।"

और वह प्रसंग वही समाप्त-सा हो गया।

सचमुच वे बड़ी नाकवाली निकली। दस बार जाकर इन्होंने नाक रगडी, *तब कहीं उन्होंने आने की अनुकंपा की—इतने दिनों तक कहती रही* तब नही माने; जब गरज पडी तब बुलाने गये। इसीलिए आते ही उन्होंने सबको नाकों चने चबवा दिये।

आते ही उन्होने अड़ोस-पड़ोस मे एलान कर दिया, "मेम साहब को तो दफ्तर जाना होता है। हमारे मुन्ना राजा तो बेचारे अभी तक स्कूल-कालेज के चक्कर मे पडे हुए हैं। फिर घर को कौन संभाले ? राजकुमारी की देख-भाल कौन करे ? इसीलिए दो-दो दाइयां बुलवायी गयी हैं। रूखा-सूखा खाकर कोने में पड़ी रहेगी।"

दरअसल राजकुमारी जरा जल्दी ही आ गयी थी। अभी हमारे पास बच्चे का कोई प्रावधान नही था। पर जब डाक्टर ने यह खुशखबरी सुनायी तो उस ईश्वरी सौगात को लौटाने का मन भी नही हुआ।

प्रसूति के लिए मैं मां के यहा चली गयी थी। तीन महीने की पूजा को लेकर ही घर लौटी। इसी बीच रोटी-पानी की समस्या को लेकर यह

अम्मां जी को ले आये थे। बोले, "रोटी-पानी का तो बहाना है। खाना तो मैं होटल में भी खा सकता हूं। मर सोचा कि कल को तुम बैंक जाने लगोगी, तब भी तो घर में कोई चाहिए। सिर्फ नौकरों के भरोसे तो बच्ची को दिन-भर नहीं छोड़ा जा सकता।"

जब तक मां के यहां रहीं, ये रोज शाम को मुझे देख जाते। पर अम्मां जी एक बार भी नही आयीं। मां अकसर कहतीं, "कैसी कठ-करेजिन है तेरी सास ? क्या एक बार भी उसका पोती देखने को मन नहीं होता ?" मां तो मेरे ससुराल जाने की कल्पना मात्र से व्याकुल हो जातीं। अगर मनोज यह नयी व्यवस्था न करते तो मैं पूजा को मां के हाथों ही सौंपती।

तीन महीने बाद ज्वाइन करके मैंने फिर छुट्टी बढ़ा ली। वह एक दिन भी मुझ पर भारी पड़ गया था। दिन-भर मन घर में ही लगा रहा। उधर पूजा ने भी रो-रोकर सारा मोहल्ला जुटा लिया था। सारा हाल देख-सुनकर मनोज मुझे छुट्टी समाप्त होने से पहले ही घर ले आये ताकि बच्ची नये लोगों से परिचित हो सके। नये वातावरण की अभ्यस्त हो सके।

बहुत जोरदार स्वागत की तो मैंने भी आशा नहीं की थी। पर अपने ही घर में चोरों की तरह घुसना पड़ेगा, यह भी नहीं सोचा था। रजनी पड़ोस में सहेली के पास बैठी थी। उसने देखकर भी अनदेखा कर दिया। अम्मां जी रसोई में व्यस्त थीं। कुंडी खोलकर दोबारा वहीं लौट गयीं। उनके पांव छूकर मैंने पूजा को उनके चरणों में डाल दिया। पर आशीर्वाद देना तो दूर रहा, उन्होंने आंख उठाकर देखा भी नहीं।

अपमान का घूंट पीकर रह गयी मैं। अनायास ही जिया की याद हो आयी। रिक्शा रुकते ही कैसे हुलसकर दौड़ी आयी थीं। फिर मुझे दरवाजे पर खड़ा करके वैसे ही भागी-भागी भीतर गयी थीं। राई-नोन उतारने के बाद ही मुझे भीतर प्रवेश मिल सका था। पूजा को उन्होंने लपककर गोद में उठा लिया था और उसके कुनमुनाने की परवाह न करते हुए देर तक दुलराती रही थीं। पोती के उछाह में उस दिन पंडित जी ने सारे शिष्यों को छुट्टी दे दी थी। जिया ने खीर-पूड़ी बनायी थी, मोहल्ले में बताशे बांटे थे। चलते समय 'रघुनाथ जी का प्रसाद' कहकर ढेर सारा सामान साथ दे दिया था।

मुझ पर तो अम्मा जी की अनकृपा सदा से थी, पर सोचा था कि बच्ची को देखकर उनका मन पिघल जायेगा। मेरी यह आशा एकदम व्यर्थ भी नहीं हुई। मुझसे वे वैसे ही कटी-कटी-सी रहीं पर पूजा को अधिक समय तक अनदेखा न कर सकीं। गोरी-चिट्टी गुलगोथनी पूजा बिलकुल उनके बेटे की प्रतिमूर्ति थी। मैं जान-बूझकर उसे लिटाकर इधर-उधर काम में लग जाती। वे चुपके से आकर उसे उठा लेतीं, लाड करतीं। मेरी जरा-भर आहट पाते ही पटककर चली जातीं।

पंद्रह दिनों में ही वे इतनी मोहाविष्ट हो गयीं कि उन्हें फिर मेरा संकोच भी न रहा, वे दिन-भर उसे चिपटाये रहतीं और मुझे सुनाकर रजनी से कहतीं, "गनीमत है कि मां पर नहीं गयी, नहीं तो हाथ लगाने का भी मन नहीं होता।"

कई बार मन होता कि तड़ से कह दूं, "लाख काली सही, कोख तो मेरी उजली है। आप ही की तरह गोरा-चिट्टा बच्चा मैंने जन्मा है।"

पर फूस के ढेर में चिनगारी डालने की हिम्मत नहीं पड़ती।

४

अपने में शक्ति और साहस जुटाने के लिए जो छुट्टी मैंने बढ़ायी थी, वह भी एक दिन समाप्त हो गयी।

शायद उसी दिन से मेरा यातना-पर्व प्रारंभ हुआ था। अपनी लाडली को उन सहानुभूति-शून्य हाथों में सौंपकर बाहर निकलते हुए मन बहुत रोया था। पता नहीं किस कुघड़ी में मैंने उसे छोड़ा था—वह मुझसे दूर होती चली गयी। मेरा उसे लाड़ से दिया पूजा नाम भी अस्वीकृत कर दिया गया। अब वह श्वेता थी। मैदे की लोई-सी, कच्चे दूध की-सी उसकी चिकनी शुभ्र कांति ही उसे यह नाम दे गयी थी।

विवशता ही कुछ ऐसी थी कि मुझे मन मारकर काम पर जाना पड़ता था। नहीं तो मैं कब से नौकरी छोड़-छाड़कर घर बैठ जाती, चार सामान्य औरतों की तरह बच्चे पालती। पर नौकरी तो अब मेरी नियति बन गयी थी। घर में एक नये प्राणी के आते ही खर्च बढ़ गया था। मैं उसे अच्छे-से-अच्छा पहनाना-ओढ़ाना चाहती थी। उसके रख-रखाव में, खाने-पीने में किसी तरह की कंजूसी मुझे स्वीकार नहीं थी। अम्मां जी और रजनी के आ जाने से घर भी छोटा पड़ रहा था। उन्हीं दिनों हमारे भाग्य से ऊपरवाला हालनुमा कमरा खाली हुआ। उसमें अटैच्ड टायलेट की भी सुविधा थी। किराये की परवाह न करते हुए हमने तत्काल उसे ले लिया। दिन-भर की आपाधापी के बाद इस निगूढ़ एकांत से बहुत शांति मिलती थी।

दिन-भर आफिस में काम करते हुए मन अपनी लाडली के आसपास

ही घूमा करता। उसके किसी प्रकार के अहित की आशंका मुझे नहीं थी फिर भी वह पांच-छह घंटों का बिछोह मेरे लिए पहाड़ बन जाता। घर लौटने तक ममता का भार असह्य हो उठता। लगता कि उड़कर पहुंच जाऊं और उसे छाती से लगा लूं। पर घर पहुंचते ही पता लगता कि अम्मां या रजनी उसे लेकर पड़ोस में निकल गयी हैं। मैं मन मसोसकर रह जाती।

ये मुझसे पांच-दस मिनट आगे-पीछे ही घर लौटते। इन्हें दूर से आता देखकर ही अम्मा जी घर पहुंच जातीं। मैं लपककर श्वेता को गोद में लेती और कमरे में गुम हो जाती। यही तो समय मिलता था उसे जी भर-कर दुलराने का, प्यार करने का। इनका चाय-नाश्ता अम्मा जी तैयार करतीं, पास बैठकर, इसरार करके खिलातीं। इन्हें तुरंत शाम की क्लास के लिए जाना होता था। किसी तरह जल्दबाजी में ये खा-पीकर चले जाते। अम्मा जी बाद में अड़ोस-पड़ोस को सुनाकर कहतीं, "अच्छी लव मैरेज की है। थके-हारे मर्द को एक कप चाय का भी आसरा नहीं है। मैं कहती हूं, सूरत-शक्ल तो भगवान की देन है पर आदमी गुन-ढंग तो सीख सकता है।"

मैं सुबह-शाम खाना बनाने का भरसक यत्न करती। पर अम्मा जी ने रसोई में ऐसा दखल जमा लिया था कि हटने का नाम ही नहीं लेती थीं। मेरे हिस्से में झाड़ू लगाना, कपड़े धोना या चटनी पीसना—ऐसे ही काम आते थे। कभी आग्रहपूर्वक कुछ बना भी लेती, तो वे ऐसे घूरती रहतीं कि घबराहट में कभी नमक भूल जाता या मिर्चें दोबारा डल जातीं। खाते समय वो नुक्ताचीनी होती कि बस। गुस्सा तो तब आता जब ये भी आलोचकों की टोली में शामिल हो जाते। कल तक यही मनोज बनानेवाले की उंगलियां चूमने की बात करते थे।

उस दिन भी हम मां-बेटी तृप्त भाव से कमरे में लेटी हुई थीं कि नीचे से रजनी ने आवाज दी। पता चला, इनके एक मित्र सपत्नीक आये हुए हैं। जैसे ही बाहर के कमरे में पांव दिया, मैं चौंक पड़ी। मित्र-पत्नी सिर से

तक सौंदर्य-प्रसाधनों का विज्ञापन वनी हुई थीं। उनके सामने अपनी
ड़ी साड़ी और वासी चेहरा लेकर मैं एक हीनवोध से भर उठी। मनोज
आंखों में भी मैंने पहली वार एक वितृष्णा का भाव देखा और सहम
थी।

रात अपनी सफाई देते हुए मैंने कहा, "वैंक से लौटकर इतनी थक
जाती हूं कि कुछ करने का मन ही नहीं होता। फिर दिन-भर उसे छोड़े हुए
हो जाता है।"

वे जैसे फट पड़ने को आतुर ही वैठे थे, "वार-वार यह नौकरी का
हवाला क्यों देती हो? इस शहर में पचास प्रतिशत औरतें नौकरी करती
हैं। अनिल की वीवी भी करती है। सभी अपने वच्चों को छोड़कर काम
पर जाती हैं। तुम्हारी तरह सभी भाग्यवान भी नहीं होतीं। उन्हें सुवह-
शाम खाना वनाना पड़ता है, वच्चे को नहला-धुलाकर आया के घर छोड़ने
जाना होता है, वाजार से सौदा-सुलुफ भी वे ही लाती हैं, तुम तो इन सारे
झंझटों से वची हुई हो। सलीके से रह तो सकती हो।"

श्वेता के जन्म के वाद सव कुछ छूट-सा गया था। अव फिर से शाम
को सजना-संवरना शुरू कर दिया। पर किसके लिए? तैयार होकर नीचे
उतरती, तव तक ये या तो क्लास के लिए निकल चुके होते या जाने की
जल्दी में होते। सारा आयोजन व्यर्थ हो जाता। मुझे देखकर, अम्मां जी
और रजनी कनखियों से एक-दूसरे को निहारतीं और हंस देतीं। वह हंसी
...निल। देनेवाली होती थी। कभी-कभी उनका उपहास मुखर भी हो
...ता। वे विधाता को धन्यवाद देतीं, जिन्होंने उन्हें 'पौडर' के खर्च से
वचाये रखा, कभी कहतीं, "गृहस्थी क्या करेंगी खाक! रानी जी को
सिंगार-पटार से ही फुरसत नहीं मिलती।"

रूप-रंग के वाद, घर-गृहस्थी के कामों में मेरा अनाड़ीपन अम्मां जी
हाथ का दूसरा वड़ा पत्ता था। इससे वाजी हमेशा उनके हाथ में रहती थ
वचपन से ही मन सुरों की दुनिया में ऐसा खो गया था कि कई चीजें सी
को रह गयी थीं। उन्हें लेकर कभी-कभी वड़ी शर्म झेलनी पड़ती थी।

"हाय भाभी, कित्ती प्यारी फ्राक है? आपने वनाई है?" पड़ोस
मुंहवोली ननद पूछती।

"नहीं, रजनी ने बनायी है।"

"अरे वाह ! मेजपोश तो बड़ा खूबसूरत है। यार इतनी अच्छी एंब्रायडरी कर लेती हैं, हमें तो पता ही नहीं था।"

"नहीं—यह तो रश्मि के हाथों का कमाल है। शादी से पहले काढ़ा था।"

"दुलहिन—वो लाल मिर्च का अचार तो बड़ा स्वादिष्ट लगा। कैसे बनाया था, जरा बताना भई।"

"अम्मा जी से पूछ लीजिए। उन्होंने ही डाला है।"

मतलब कि घर में कई चीजें प्रशंसा बटोरती रहतीं पर किसी पर भी मेरी मोहर नहीं होती थी। ऐसे में मां बहुत याद आतीं। वे अकसर कहती थीं, "कनु, थोड़ा इधर भी देख लिया करो। कल को ससुराल जाओगी तो यही काम आयेगा। यह हिंदुस्तान है, अमरीका नहीं है।"

बाबू जी सुनते तो मा को बुरी तरह झिड़क देते। पंडित जी की बात दोहराकर कहते, "तुम्हारी बिटिया चूल्हा-चक्की करने के लिए बनी नहीं है। वह तो साक्षात् सरस्वती है।"

अब बाबू जी आकर देखें अपनी सरस्वती को !

कई चीजें तो अब मैंने सीख भी ली थीं पर उनके लिए समय नहीं मिलता था। सुबह-शाम घर का और दिन में आफिस का काम करके इतना थक जाती कि बस। फिर थोड़ी देर गुड़िया को दुलराने का भी मन होता। कभी लंच आवर में दो-चार सलाइयां निकाल लेती, बस। एक-एक स्वेटर महीनों ले लेता। इस बीच रजनी अपने और आसपासवालों के चार-पांच स्वेटर बुन चुकी होती। मेरी मजबूरी कोई नहीं समझता, मनोज भी नहीं। वे तो मजाक बनाने में अग्रणी रहते और मेरी सुस्त चाल को 'विलंबित लय' का नाम दे डालते।

श्वेता के जन्मदिन की पार्टी एक हादसे की तरह टीस जाती है।

उसके जन्म पर तो किसी ने पांच लड्डू भी नहीं बांटे। पर जन्मदिन बड़ी धूमधाम से मनाया गया। क्योंकि इस बीच वह दादी और बुआ

की आंख का तारा बन चुकी थी। पूरे मोहल्ले के लिए ही वह एक खिलौना थी। सबको बुलाया गया। इनके-मेरे आफिस के सब लोग भी थे। कुछ रजनी की सहेलियां भी थीं। पंडित जी के यहां मैं खुद गयी थी पर उन्होंने मना कर दिया। श्वेता के लिए आशीर्वादस्वरूप ग्यारह रुपये जबरदस्ती मेरे हाथ में रखते हुए बोले, "तुम्हारी सास का कुछ ठीक नहीं है। हमें देख-कर भड़क उठीं तो बेकार रंग में भंग हो जायेगा।" भैया-भाभी का भी यही मत रहा। उन्हें जो भेजना था, उन्होंने निखिल-नीता के हाथ भेज दिया। खुद नहीं आये।

उस दिन मैंने छुट्टी ले ली थी। सुबह का पूरा समय घर की झाड़-पोंछ में निकल गया। उसके बाद मोहल्ले-भर से प्लेटें, चम्मच-गिलास इकट्ठा कर लायी। उन्हें धो-पोंछ कर करीने से रखा। बाहरवाले कमरे को झंडियों और गुब्बारों से सजाने में इनका हाथ बंटाया। इसके अतिरिक्त ५ किलो गाजरों को कद्दूकस किया। दही-वड़े के लिए दाल पीसी। छोलों का मसाला बनाया। वड़ों के लिए दही तैयार किया। दूसरे छोटे-मोटे काम इस बीच निकलते ही रहे। सांस लेने का भी मेरे पास समय नहीं रहा था। अतिथियों का पहला जत्था आ पहुंचा, तब कहीं जाकर मैंने कपड़े बदले।

श्वेता को रज्जो ने तैयार कर दिया था। सफेद झालरदार फ्रॉक में वह परी-सी लग रही थी। केक काटने के बाद सबके इसरार पर मैंने **'मेरे घर आयी एक नन्ही परी'** गाया तो मेरे आंसू निकल आये।

बहुत दिनों बाद इस तरह खुलकर गाया था। बड़ा अच्छा लगा। सुननेवालों को भी शायद पसंद आया होगा क्योंकि 'वंस मोर' की आवाज से कमरा गूंज गया। एक-दो हलके-फुलके गीत और सुनाने पड़े। (अच्छा ही हुआ जो पंडित जी नहीं आये।)

गाने के बाद खाने का दौर शुरू हुआ। प्रशंसा की फिर झड़ी-सी लग गयी। पर इस बार सुर दूसरा था।

"दही-वड़े कितने सॉफ्ट बने हैं न!"

"गाजर का हलवा तो मथुरावाले को मात कर रहा है।"

"छोले घर पर ही बनाये हैं या सरदार दी हट्टी के हैं।"

"रमा," इनके मित्र पत्नी से बोले, "भाभी से जरा ट्रेड सीक्रेट पूछ लो।

तुम्हारे बड़े अंदर से कड़े क्यों रह जाते हैं ?"

जैसा कि स्वाभाविक था, रमा का चेहरा लाल हो आया था। मैंने उसकी झेंप मिटाते हुए कहा, "भई, हम भी आप ही की जाति के हैं। आप अम्मां जी से पूछिए। उन्होंने ही बनाये हैं।"

"सब कुछ अम्मां ने ही बनाया है," रजनी ने सूचित किया। मुझे लगा, पास बैठी अम्मां जी कहें कि अरे, मेरे अकेले के बस की बात थी ? ये बेचारी भी सुबह से लगी हुई है।

पर वे एकदम बोल उठीं, "अरे, अपनी भाभी से तुम बस गाना गवा लो। उनसे और कुछ नहीं होता।"

मुझे जैसे आग लग गयी। अभी-अभी जो मेरे गाने की प्रशंसा हुई थी उसी के लिए यह उपालंभ था। ये लोग जैसे मेरी इतनी-सी अच्छाई भी बरदाश्त नहीं कर सकते। किसी तरह मुझे दूसरों की नजरों में उठता नहीं देख सकते। मुझे भी ताव आ गया। जहर बुझे स्वर में मैंने कहा, "आप ये हरदम गाने का उलाहना क्यों देती रहती हैं ? इस घर में आकर तो मैं गुन-गुनाना तक भूल गयी हूं।"

"अरे तो मना किसने किया है ? अटारी पर बैठकर सुबह-शाम अलापा करो। रोटी-पानी के लिए हम हैं तो।"

इस जुगलबंदी से सब सन्न रह गये। अच्छा-खासा तमाशा हो गया।

पर असली [illegible]माशा तो रात में हुआ। मेहमानों के चले जाने के बाद इन्होंने वो बमवा[illegible] की कि बस। दोनों मां-बेटी सिर झुकाये सुनती रहीं—जैसे मुंह में जबान[illegible] न हो। पर मैं उनकी हर ईंट का जवाब पत्थर से देती रही। पता नहीं [illegible]ने दिनों के संचित रोष को शब्द मिल गये थे। जिरह करके जब थक ग[illegible] उपसंहार-सा करते हुए बोले, "एक मिनट घर में शांति नहीं रहने दोगी [illegible] बात का जवाब देना जरूरी है।"

तब समझ [illegible]ा, यद्यपि बड़ी देर से आया कि दोनों-की-दोनों बुत क्यों बन गयी थीं [illegible]हस्वामी को जैसे जता देना चाहती थीं कि दोनों बहुत सौम्य, शा[illegible]नशील हैं। झगड़े की जड़ में है तो बस यह तुम्हारी बहू।

की आंख का तारा वन चुकी थी। पूरे मोहल्ले के लिए ही वह एक खिलौना थी। सबको वुलाया गया। इनके-मेरे आफिस के सब लोग भी थे। कुछ रजनी की सहेलियां भी थीं। पंडित जी के यहां मैं खुद गयी थी पर उन्होंने मना कर दिया। श्वेता के लिए आशीर्वादस्वरूप ग्यारह रुपये जबरदस्ती मेरे हाथ में रखते हुए वोले, "तुम्हारी सास का कुछ ठीक नहीं है। हमें देख-कर भड़क उठीं तो वेकार रंग में भंग हो जायेगा।" भैया-भाभी का भी यही मत रहा। उन्हें जो भेजना था, उन्होंने निखिल-नीता के हाथ भेज दिया। खुद नहीं आये।

उस दिन मैंने छुट्टी ले ली थी। सुवह का पूरा समय घर की झाड़-पोंछ में निकल गया। उसके वाद मोहल्ले-भर से प्लेटें, चम्मच-गिलास इकट्ठा कर लायी। उन्हें धो-पोंछ कर करीने से रखा। बाहरवाले कमरे को झंडियों और गुब्बारों से सजाने में इनका हाथ बंटाया। इसके अतिरिक्त ५ किलो गाजरों को कद्दूकस किया। दही-वड़े के लिए दाल पीसी। छोलों का मसाला वनाया। वड़ों के लिए दही तैयार किया। दूसरे छोटे-मोटे काम इस वीच निकलते ही रहे। सांस लेने का भी मेरे पास समय नहीं रहा था। अतिथियों का पहला जत्था आ पहुंचा, तव कहीं जाकर मैंने कपड़े वदले।

श्वेता को रज्जो ने तैयार कर दिया था। सफेद झालरदार फ्रॉक में वह परी-सी लग रही थी। केक काटने के वाद सवके इसरार पर मैंने **'मेरे घर आयी एक नन्ही परी'** गाया तो मेरे आंसू निकल आये।

वहुत दिनों वाद इस तरह खुलकर गाया था। वड़ा अच्छा लगा। सुननेवालों को भी शायद पसंद आया होगा क्योंकि 'वंस मोर' की आवाज से कमरा गूंज गया। एक-दो हलके-फुलके गीत और सुनाने पड़े। (अच्छा ही हुआ जो पंडित जी नहीं आये।)

गाने के वाद खाने का दौर शुरू हुआ। प्रशंसा की फिर झड़ी-सी लग गयी। पर इस वार सुर दूसरा था।

"दही-वड़े कितने साफ्ट वने हैं न!"

"गाजर का हलवा तो मथुरावाले को मात कर रहा है।"

"छोले घर पर ही वनाये हैं या सरदार दी हट्टी के हैं।"

"रमा," इनके मित्र पत्नी से वोले, "भाभी से जरा ट्रेड सीक्रेट पूछ लो।

तुम्हारे बड़े अंदर से कड़े क्यों रह जाते हैं ?"

जैसा कि स्वाभाविक था, रमा का चेहरा लाल हो आया था। मैंने उसकी झेंप मिटाते हुए कहा, "भई, हम भी आप ही की जाति के हैं। आप अम्मा जी से पूछिए। उन्होंने ही बनाये हैं।"

"सब कुछ अम्मां ने ही बनाया है," रजनी ने सूचित किया। मुझे लगा, पास बैठी अम्मां जी कहें कि अरे, मेरे अकेले के बस की बात थी ? ये बेचारी भी सुबह से लगी हुई है।

पर वे एकदम बोल उठीं, "अरे, अपनी भाभी से तुम बस गाना गवा लो। उनसे और कुछ नहीं होता।"

मुझे जैसे आग लग गयी। अभी-अभी जो मेरे गाने की प्रशंसा हुई थी उसी के लिए यह उपालंभ था। ये लोग जैसे मेरी इतनी-सी अच्छाई भी बरदाश्त नहीं कर सकते। किसी तरह मुझे दूसरों की नजरों में उठता नहीं देख सकते। मुझे भी ताव आ गया। जहर बुझे स्वर में मैंने कहा, "आप ये हरदम गाने का उलाहना क्यों देती रहती हैं ? इस घर में आकर तो मैं गुन-गुनाना तक भूल गयी हूं।"

"अरे तो मना किसने किया है ? अटारी पर बैठकर सुबह-शाम अलापा करो। रोटी-पानी के लिए हम हैं तो।"

इस जुगलबंदी से सब सन्न रह गये। अच्छा-खासा तमाशा हो गया।

पर असली तमाशा तो रात में हुआ। मेहमानों के चले जाने के बाद इन्होंने वो बमबारी की कि बस। दोनों मां-बेटी सिर झुकाये सुनती रहीं—जैसे मुंह में जबान ही न हो। पर मैं उनकी हर ईंट का जवाब पत्थर से देती रही। पता नहीं कितने दिनों के संचित रोष को शब्द मिल गये थे। जिरह करके जब थक गये तो उपसंहार-सा करते हुए बोले, "एक मिनट घर में शांति नहीं रहने दोगी ? हर बात का जवाब देना जरूरी है।"

तब समझ में आया, यद्यपि बड़ी देर से आया कि दोनों-की-दोनों बुत क्यों बन गयी थीं। वे गृहस्वामी को जैसे जता देना चाहती थीं कि दोनों बहुत सौम्य, शांत, सहनशील हैं। झगड़े की जड़ में है तो बस यह तुम्हारी बहू।

वे तीन साल कैसे बीते, मेरा ईश्वर जानता है। घर मेरे लिए एक होटल-सा हो गया था। अपने हिस्से का काम निबटाकर कमरे में पड़ी रहती थी। ये सुबह खाना खाकर निकल जाते तो रात गये ही लौटते। शिकायत करना भी चाहती तो इनका श्रांत-क्लांत चेहरा देखकर चुप लगा जाती।

इनके इस तरह सारा-सारा दिन बाहर रहने से मैं कितनी अकेली पड़ गयी, इसका इन्हें कोई होश नहीं था। सास और ननद तो हमेशा से विरोधी खेमे में थीं। पर इस बीच अपनी बच्ची भी अपनी नहीं रह गयी थी। दादी का स्नेहबंध दिन-पर-दिन प्रगाढ़ होता जा रहा था। कई बार तो वे उसे रात में भी अपने पास सुला लेतीं।

वैसे भी श्वेता जितनी देर मेरे पास होती, डांट खाती रहती। दादी और बुआ के सीमातीत लाड़-प्यार ने उसे बहुत जिद्दी बना दिया था। उन दोनों की देखा-देखी वह भी मेरी उपेक्षा करने लगी थी। अपनी हर गलत-सलत बात मनवाने की उसे आदत पड़ गयी थी। मैं जरा भी विरोध करती तो वह जमीन पर लोट जाती या दीवार पर सिर दे मारती। उसकी चीख-पुकार सुनते ही अम्मां जी दौड़ी आतीं और अपनी लाडली की फरमाइश पूरी कर देतीं। उसे पुचकारकर चुप करा देतीं और गोद में उठाते हुए बुदबुदातीं, "मां है कि डायन, बच्चे का इतना मन नहीं रख सकती।"

'डायन' शब्द को तो मैं किसी तरह पी जाती, पर जब श्वेता दादी की गोद में चढ़कर 'ममी गंदी है' के नारों से घर भर देती तो कलेजा छलनी हो जाता।

उस निपट एकाकीपन के बीच कभी-कभी अपना तानपूरा याद आ जाता। कमरे की खिड़कियां-दरवाजे बंद कर मैं उसे लेकर बैठ जाती। पर जैसे ही तारों पर उंगलियां फेरती, लगता कि कई जोड़ी अदृश्य आंखें मुझ पर पहरा दे रही हैं और आवाज गले में फंसकर रह जाती।

पता नहीं कौन-सी दुनिया में आ गयी थी मैं कि संगीत से नाता छूट-सा गया था। गाना तो दूर, मेरी तो सुनने की आदत भी छूट-सी गयी थी।

कभी कोई बहुत बड़ा कलाकार शहर में आता तो मैं अपना मोह न

रोक पाती। उस दिन मैं बैंक से सीधे भैया के यहां चली जाती ताकि रात लाने-ले जाने की समस्या न रहे। अम्मां जी के आ जाने से यह सुख भी जाता रहा।"

अब भी कई बार भैया का आफिस से फोन आता है, "कनु, रात को टैगोर हाल में जसराज जी हैं या मानक भवन में अब्दुल हलीम आ रहे हैं।" उस समय सिवाय तरसकर रह जाने के मैं कुछ नहीं कर पाती। पहले बैंक में लोग पूछ लिया करते थे, "अरे, कल जितेंद्र अभिषेकी के कार्यक्रम में आप नहीं दिखीं?" अब कोई नहीं पूछता। जैसे सब जान गये हैं कि मेरे जीवन का वह अध्याय अब समाप्त हो गया है।

दिन-रात की इस ऊब को पीते-पीते एक दिन मेरा भी धैर्य जवाब दे गया। खीजकर मैंने कहा, "बाहर जाने पर शायद तुम्हें यह भी याद नहीं रहता कि तुम्हारी एक बीवी है, बच्ची है।"

"तुम क्या सोचती हो, मैं बाहर मटरगश्ती करता हूं?"

"मैं क्या जानूं कि क्या करते हो?"

"भाड़ झोंकता हूं।" वे चिढ़कर बोले। पर दूसरे ही क्षण अत्यंत गंभीर हो गये, "कनु, मैं नौकरी छोड़ रहा हूं। अनिल के जीजा जी एक फैक्ट्री डाल रहे हैं। उन्हें एक भरोसेमंद आदमी की जरूरत थी। अनिल ने मेरा नाम सुझा दिया। उसी की जुगाड़ में तो लगा रहा इतने दिन। अरे, ऐसे क्या देख रही हो? अनिल भी छोड़ रहा है। उसकी तो बारह साल पुरानी सर्विस है। पर उसकी बीवी ने कुछ नहीं कहा। उलटे हौसला···"

"तुम्हारी पढ़ाई?" उनकी बात काटकर मैंने पूछा।

"आखिरी सेमिस्टर ही तो है। कर लूंगा। उसी के बल-बूते पर तो यह सुपरवाइजर का काम मिला है, मेरा अपना केबिन होगा, टाइपिस्ट होगी, प्यून होगा। सरकारी नौकरी में यह सब जुड़ता? जरा सोचो। सब-इंजीनियर बनकर जिंदगी-भर देहातों की खाक छानता फिरता, सो अलग। तुम लोग यहां अकेले परेशान होते रहोगे। इससे तो यह व्यवस्था क्या बुरी है? डिप्लोमा हो जाये तो दो साल में एम० बी० ए० भी कर लूंगा। फिर

तो असिस्टेंट मैनेजर की कुर्सी पक्की है।"

"लेकिन नौकरी तो प्राइवेट ही हुई न! अनिल के पिता जी; सारी, जीजा जी जिंदगी-भर ऐसे ही कृपालु बने रहेंगे, इसकी क्या गारंटी है?"

"बिलकुल है, मेरा पच्चीस हजार फैक्टरी में लगा हुआ है। जिस दिन नौकरी छोड़ूंगा, पाई-पाई लेकर ही हटूंगा।"

"पच्चीस हजार!" आश्चर्य से मेरी आंखें फैल गयीं, "इतना रुपया तुम्हारे पास कहां से आया?"

वे एकदम झेंप गये। खिसियाकर बोले, "सारी कनु, तुम्हें बताना भूल गया। गांव की जमीन मैंने बेच दी है। जमीन का वह उतना-सा टुकड़ा किसी मतलब का नहीं था। न वहां का माहौल ही अब अच्छा रहा है। वैसे भी अब हमसे खेती-किसानी तो होने से रही।"

"मनोज, तुमने नौकरी छोड़ दी। गांव की जमीन बेच दी। क्या एक बार तुम्हें ऐसा नहीं लगा कि इतने अहम फैसले लेने से पहले मुझसे एक बार पूछ ही लेना चाहिए?"

"कनु···दरअसल मैं तुम्हें सरप्राइज देना चाहता था।"

"क्या मेरा कोई हक नहीं बनता मनोज?"

"सच कहूं कनु, मुझे तुम्हारे हक का खयाल कभी आया ही नहीं···मैं ···मैं सिर्फ तुम्हारी खुशी के बारे में सोचता रहा। जरा सोचो···ये सारी उठा-पटक क्या मैं अपने लिए कर रहा हूं? कनु, तुम्हीं ने मुझे सपने देखना सिखाया है। तुम्हीं ने मेरी आकांक्षाओं को नया आकाश दिया है। तुम्हीं इस तरह हिम्मत हार जाओगी तो मैं कैसे आगे बढ़ूंगा? तुम्हीं मुंह फेर लोगी तो ये सारी भागमभाग मैं किसके लिए करूंगा।

उनके मिश्रीघुले स्वर ने सारे गिले-शिकवे भुला दिये। अपना सिर उनके सीने में छुपाते हुए मैंने पूछा, "जमीनवाली बात अम्मां जी को मालूम है?"

"न—और तुम बताना भी नहीं। नहीं तो अभी रजनी की शादी के लिए हाय-हाय करने लगेंगी। जानता हूं, अम्मां सुनेंगी तो आसमान सिर पर उठा लेंगी। पर फिलहाल मैंने उस विषय में सोचना ही छोड़ दिया है। रज्जो का ब्याह दो साल बाद भी हो सकता है—और मैं खूब धूम-धाम से

करूंगा। पर इतना रुपया रोज-रोज तो हाथ आयेगा नहीं। इस समय इसे ठिकाने से नहीं लगाया तो जिंदगी-भर क्लर्की ही करनी पड़ेगी।"

वह रात सुनहले सपने देखते बीत गयी। भाग्यलक्ष्मी ने अप्रत्याशित रूप से दरवाजे पर दस्तक दी थी। जमीन को लेकर भाई-बंदों में पता नहीं कब से ठनी हुई थी। किसी जमाने में वादियों की सूची में मनोज के पिता का नाम भी था। उनकी मृत्यु के बाद ये लोग तटस्थ हो गये थे क्योंकि कोर्ट-कचहरी लायक न तो पास में पैसा था, न हौसला। पर बिल्ली के भाग से छींका टूटा और जमीन का वह टुकड़ा अनायास हमारे हाथ लगा।

हाईकोर्ट के निर्णय की शुभ सूचना देते हुए रिश्ते की एक बुआ ने लिखा था, "बहू बड़ी भागवान आयी है। आते ही तुम्हारे सारे काम सुलझा दिये।"

मेरी यह तारीफ अम्मा जी को जरा नहीं भायी थी। मुंह बिचकाकर उन्होंने उस पोस्टकार्ड को ही सुना दिया था, "अरे यह तो देर-सवेर होना ही था। इसमें उसने क्या कर लिया?"

उनकी उस बात का कसैलापन मन में अब तक ताजा था। पर अब सारा मलाल अपने-आप घुल गया।

५

नयी नौकरी की मिठाई मोहल्ले-भर में बाँटते हुए अम्मा जी सबसे कहती फिर रही थीं, "अरे, मैं तो पहले ही जानती थी। हमारे जोशी जी ने तो पत्री में ही पता लिया था कि भाग्यवान का सितारा पैदा हुआ है। इसका ओहदा घर-भर में सबसे ऊँचा होगा। उनके पापा तो हमेशा कहते थे, 'जैसा राजा बेटा-सा रूप लेकर आया है। बड़ा होकर यह बड़ा आदमी बनेगा।' ये तो कलेक्टर बनेगा, कलेक्टर।"

बस, एक ही बात का उन्हें जरा-सा मलाल था, "किस्मत जरा जल्दी जाग जाती तो! अब क्या यह ऐसी उठापटक वाली नौकरी करता? लड़कीवालों की दरवाज़े पर भीड़ लग जाती। ऐसे रूप-गुणसंपन्न लड़के मिलते कहाँ हैं?"

ये सारी बातें मुझे सुनाकर ही कही जातीं। मैंने उन्हें अनसुना करना सीख लिया था। पर मेरे अरमानों की राह में कहीं गहरे एक घाव हो गया था। ऐसी बातों से वह जब-तब रिस उठता था।

उस दिन बैंक से लौटकर अपने कमरे में सुस्ता रही थी कि वे लड़खड़ाते हुए कमरे में घुसे।

"आज बड़ी जल्दी आ गये?"

पर मेरी बात पूरी न हो पायी थी कि मैं रेशम-से गुनगुने हाथों में घिर गयी।

"बात क्या है?" किसी तरह अपने को छुड़ाते हुए मैंने कहा।

"साड़ी है।"

"वो तो देख रही हूं। कितने पैसे फूंक आये!"

"घटिया बात मत करो यार! मेरी भावनाओं की कद्र करो।"

"पहले बताओ, कितने की है?"

"पहली तनख्वाह पूरी-की-पूरी तुम्हारी नजर कर दी। बस···अरे, ऐसे आंखें फाड़कर क्या देख रही हो? बनारसी साड़ी है—पच्चीस रुपये में तो आती नहीं।"

"जरूरी था?"

"बिलकुल। तुम्हें ऐसे ही खाली हाथ ब्याह लाया था। मेरे लिए कुछ करने के दिन तो अब आये हैं और अब भाषणबाजी बन्द, बस···फटाफट तैयार हो जाओ। पिक्चर चलेंगे।"

"अम्मा जी से···"

"मैं पूछता हूं। तुम बस तैयार होकर नीचे आ जाओ।"

इंद्रधनुषी कल्पनाओं पर तैरते हुए ही मैं नीचे उतरी। अम्मा जी कुर्सी पर मुंह फुलाये बैठी थीं। शायद हम दोनों के सिनेमा जाने के प्रस्ताव से उनका मूड आफ हो गया था। मैंने धड़कते दिल से उनके पांव छुए।

"आज यह सुमति कैसे उपज आयी?"

"जी···यह नयी साड़ी···"

"अच्छा तो हमें दिखाने आयी है?"

"अम्मा," ये बोले, "मेरी पहली तनख्वाह की साड़ी है। पहनकर तुम्हें प्रणाम करने आयी है। आशीर्वाद दो।"

"अच्छा! तो पहली तनखा की बहुरिया के लिए साड़ी आयी है। ठीक तो है। घर में और कोई पहननेवाला है ही नहीं। अरे निपूते, अम्मा तो बुढ़ा गयी हैं, मान लिया, पर जवान-जहान बहन तो थी घर में। रानी जी के लिए बनारसी लाया है, उसके लिए सूती ही ला देता।"

"हर बात को उलटा क्यों लेती हो अम्मा? रज्जो के लिए क्या कभी कुछ लाता नहीं हूं? कोई भी राखी या दूज मैंने सूनी जाने दी है? आज का दिन कल्याणी का था। आज मुझे नयी नौकरी की पहली तनख्वाह मिली है। और तुम्हें मालूम है कि आज जो मैं इसके लायक हुआ हूं, उसके पीछे

इसकी तपस्या है।"

"हां, जरूर है। हमने तो बचवा, कुछ तुम्हारे लिए किया ही नहीं! तुम तो सीधे आसमान से टपके हो और धरती छूते ही इतने बड़े हो गये हो।"

वे हतबुद्धि होकर उन्हें देखते ही रह गये। मैंने कहा, "सच तो है। अम्मां जी बेचारी कैसे जानेंगी कि मैंने क्या तपस्या की है? तुमने कितने पापड़ बेले हैं? वे तो अब तक यही समझती रहीं कि काली-कलूटी बहू के कारण लड़का घर से भागा-भागा फिरता है।"

"क्या बक रही हो?"

"झूठ थोड़े ही है। विश्वास न हो तो अपनी मां से पूछ लो। अड़ोस-पड़ोस में ये यही सब तो कहती फिरती हैं।"

अब वे मां पर बरसना शुरू हुए।

मैं चुपचाप ऊपर चली आयी। नौकरी की, नयी साड़ी की सारी खुशी हवा हो गयी थी।

अम्मां जी को शायद यही अभिप्रेत था।

फैक्टरी शहर से दूर इंडस्ट्रियल एस्टेट में थी। आते-जाते पंद्रह किलोमीटर का चक्कर पड़ जाता था। बस के टाइमिंग्स नहीं मिलते थे। फिर बस से उतरकर काफी दूर तक पैदल चलना पड़ता था। फिर जहां हर कोई छोटा-बड़ा स्कूटर या मोटर साइकिल दनदनाता हुआ आता हो, वहां अपनी खड़खड़िया साइकिल पर जाना बहुत खराब लगता था।

हम लोगों ने जी कड़ा किया और एक सेकंड-हैंड लैंब्रेटा खरीद ही लिया। उसके लिए एकमुश्त रकम हमारे पास नहीं थी। फिर कुछ इन्होंने दोस्तों से उधार लिया, कुछ मैंने बैंक से लोन लिया—कुछ बड़े भैया ने दिया। उन्हीं के दोस्त का स्कूटर था। हमारे भाग्य से उसका नया वेस्पा आ गया था। उसी ने समय निकालकर इन्हें अच्छी तरह चलाना भी सिखा दिया था।

एक दिन इनका आफिस में फोन आया, "कनु डियर, पांच बजे तैयार

रहना। स्कूटर लेकर आ रहा हूं। साथ घर चलेंगे।"

सुनते ही मन उछल पड़ा। परंतु किसी तरह अपने को संयत कर मैंने कहा, "देखो, प्लीज बुरा मत मानना। लेकिन सबसे पहले आप अपनी पूजनीय माता जी को घुमा लाइए। नहीं तो वे गाड़ी देखते ही चीखना शुरू कर देंगी कि घर में जवान बहन ब्याहने को बैठी है और इन्हें ऐयाशी सूझ रही है।"

अपना गुबार निकालते समय याद ही न रहा कि फोन मेहता साहब की केबिन में है और वे मुझे घूर रहे हैं।

घर लौटी तो देखा, दरवाजे पर अच्छा-खासा मजमा इकट्ठा है। स्कूटर के गले में माला है, माथे पर अक्षत-रोली का टीका है और रजनी उसकी बाकायदा आरती उतार रही है। इसके बाद अम्मां जी ने सबका मुंह मीठा करवाया। वे अपनी सबसे अच्छी साड़ी पहने हुए थीं। बेटा सबसे पहले उन्हें घुमाने ले जा रहा है, इस गर्व से उनका चेहरा दमक रहा था।

सब लोगों के इसरार करने पर शरमाने का नाटक-सा करती हुई वे पिछली सीट पर जा बैठीं। पहली बार बैठी थीं, घबराहट होनी स्वाभाविक ही थी। पर वे उसे छिपाने की प्राणपण से चेष्टा किये थीं। इन्होंने गाडी स्टार्ट की ही थी कि किसी को याद आया, "अरे, गुडिया कहां है! उसे दादी की गोदी में दो।"

गुड़िया डरकर रोने लगी। रजनी ने उसे दो बार बिठाना चाहा, दोनों बार वह मचलकर उतर पडी, मैंने खीजकर कहा, "अरी बैठ न, डरती क्यों है? तेरा भी तो हक है। तेरी मां का भी पैसा लगा है इसमें।"

जैसा कि मुझे विश्वास था, अम्मा जी झट से उतर पड़ीं।

"क्या हुआ?" इंजिन की घरघराहट बदकर इन्होंने पूछा।

"हमें नहीं बैठना। गिर-गिरा गये तो और फजीहत होगी।"

उन्होंने बहुत समझाया, बहुत मनाया, पर वे नहीं मानीं। आखिरकार वे रजनी को लेकर ही चले गये। इतने सारे लोग घेरे खड़े थे, उनके सामने कुछ तो करना ही था।

लौटते ही इन्होंने मुझसे पूछा, "तुमने अम्मां से ऐसा क्या कह दिया था ?"

"क्या कह दिया ?"

"रज्जो बता रही थीं।"

"तो उसी से पूछ लिया होता।"

"उससे क्या पूछूंगा खाक, मैं तो तुमसे पूछता हूं। क्या हर बार इस तरह नाटक करना जरूरी है ?"

"हर बार तो नहीं, पर हां, कभी-कभी जरूरी हो जाता है। मैं तुम्हारी मां को दिखाना चाहती थी कि हाथ आयी खुशी जब अचानक छिन जाती है, तब कैसा लगता है। जो कसक मैंने हजार बार झेली है, उन्हें एक बार तो सहन करने दो।"

"अरे, उनसे इस तरह निठुर होकर बदला लेते हुए तुमने यह कभी नहीं सोचा कि मुझ पर क्या बीती होगी। जब भी बड़ी उमंग से कुछ करने को सोचता हूं, तुम पानी फेर देती हो।"

"मैं पानी फेरती हूं ?"

"नहीं, तुम नहीं करतीं कुछ, हर बार अम्मां ही झमेला खड़ा कर देती हैं, बस। अम्मां···जिनका उल्लेख तुम हर बार 'तुम्हारी मां' के रूप में करती हो—वे मेरी मां हैं, सिर्फ यही सोचकर तुम चुप रह जाया करो तो क्या है ! पर नहीं, हर बार तुम्हारा अहं आड़े आ जाता है।"

मेरा अहं ! अपने होने का अहसास भी मुझमें चुकता जा रहा है और यह सामने बैठा शख्स कह रहा है कि मेरे अहंकार ने उसके जीवन को नरक बना दिया है। अपने आसपास को उसने बड़ी आसानी से अनदेखा कर दिया है और अपनी सारी हताशा मुझ पर उड़ेलकर वह हलका होना चाहता है। उसके स्वर में जो कड़वाहट है, वह एकदम ही नहीं उपजी है। पता नहीं, यह जहर कब से उसके मन में बूंद-बूंद कर घुलता जा रहा है।

किसने घोला है यह जहर ?

किसने ?

किसने ?

चैत की एक सुबह मुझे लगा कि मैं फिर मां बननेवाली हूं। भागी-भागी मैं अपने डाक्टर के पास गयी। वहां जब मेरे अनुमान की पुष्टि हो गयी तो मैं खुशी से थिरकती हुई ही घर लौटी। इन दिनों मैं बेहद अकेली पड़ गयी थी। मन एक अंतरंग साथी के लिए तरस गया था। नवागत ने जैसे मेरी पुकार सुन ली थी और दौड़ा चला आया।

मैंने उसी क्षण निर्णय ले लिया कि यह बच्चा मैं खुद पालूंगी। भले ही इसके लिए साल-दो साल की छुट्टी ही क्यों न लेनी पड़े। मैं उसे अपना नाम दूंगी, अपना स्वभाव, अपने संस्कार दूंगी। अपना स्वर, अपनी साधना दूंगी। मैंने ईश्वर से प्रार्थना की कि आनेवाला मेरा ही रंग-रूप लेकर आये। ताकि मेरे श्यामसुंदर पर किसी और की नजर न पड़े।

पर घर में इस नये प्राणी के आगमन की सूचना का उतनी गर्मजोशी से स्वागत नहीं हुआ। विविध भारती पर जब भी परिवार नियोजन के विज्ञापनों को सुनती तो लगता—छि ऐसा भी कोई कहता होगा। पर अपने ही घर में उन संवादों की पुनरावृत्ति होते देख मैंने माथा पीट लिया। ये तो एकदम बौखला-से गये, "अरे, अभी से इस मुसीबत की क्या जरूरत थी? अभी तो घर की हालत जरा सुधरी है। इस नये खर्च के साथ फिर वैसी-की-वैसी हो जायेगी। दो-तीन महीनों में मैं एक मशीन डालने की सोच रहा हूं। इस नयी जिम्मेदारी की अभी गुंजाइश ही कहां है? वैसे इतनी जल्दी भी क्या है, जिंदगी पड़ी है। मन बहलाने को एक खिलौना घर में है तो।"

पतिदेव का भाषण सुन लेने के बाद सास की प्रतिक्रिया जानने का उत्साह ही जाता रहा। जानती थी, वे तो अपना वही राग अलापेंगी, "घर में जवान-जहान बहन ब्याहने को बैठी है और इन्हें चोंचले सूझ रहे हैं।"

अम्मा जी हमेशा की तरह भुनभुनायीं, पर इस बार स्वर दूसरा था। बोलीं, "अच्छा तो है, रज्जो के ससुराल जाने से पहले जितने होने हैं, हो जायें। मेरे अकेली के बस का थोड़े ही है। भगवान करे, इस बार बेटा हो जाये तो झंझट खतम हो। रज्जो के भरोसे पर ही तो लोग-बाग निश्चिंत हैं। नहीं तो अब तक कभी बात न चलाते? पर तब इनके लाड़लों के पोतड़े कौन धोता?"

दोनों चावल बीनने जैसा नितांत सांसारिक कार्य करते हुए अध्यात्म-चर्चा करती रहीं।

तभी इनके स्कूटर की आवाज सुनाई दी। आज थोड़ा जल्दी ही आ गये थे। अम्मां जी एकदम उठ खड़ी हुईं, "मुन्ना आ गया है शायद। चलूं थोड़ी चाय बना दूं। रज्जो पढ़ रही होगी।"

मां ने उन्हें हाथ पकड़कर बिठा लिया, "जिज्जी, आप तो आराम कीजिए अब। बहू किसलिए है?"

निरुपाय होकर अम्मां जी बैठ गयीं। मुझे उठना ही पड़ा। मन में कुढ़ते हुए ही मैं नीचे उतरी। इतने दिनों बाद थोड़ा अकेले में मिलने का मौका मिला था, मां ने वह भी गंवा दिया। और रज्जो ऐसी कौन-सी पढ़ाई कर रही है! दो विषयों में सप्लीमेंटरी आयी है। तब भी फेल होने का दोष मेरी बीमारी के सिर गया था, अब भी जायेगा। कौन-सी नयी बात है।

एक अरसे बाद मैंने रसोई में पांव दिया था। इस बीच गैस की जगह बदल गयी थी, चाय के लिए नये मग्स आ गये थे, दूध की अलमारी पर फिर से रंग हो गया था।

"अरे, तुम?" इन्होंने चौंककर पूछा।

"चाय पियोगे न!" मैंने कहा और माचिस ढूंढने लगी। इन्होंने लाइटर से गैस जला दी तो मैंने चाय चढ़ा दी। चाय-शक्कर केडिब्बे खोलकर देखे। शक्कर कुछ कम थी। हमेशा वाले डिब्बे में देखा—उसमें बेसन था।

"रजनी, शक्कर का बड़ा डिब्बा कहां है?"

रजनी ने बाहर से ही आवाज देकर अता-पता बता दिया। शक्कर निकालकर लायी तब तक चाय उफनने लगी। घबराहट में गैस बंद करने की याद न रही। पतीली ही उतार ली, वह भी हाथ से। स्टील की पतीली अंगारा हो रही थी। हाथ लगते ही मेरी चीख निकल गयी। पतीली हाथ से छूट गयी। पूरे घर में दूध-ही-दूध हो गया।

चीख सुनते ही सब लोग दौड़े आये। अच्छा-खासा नाटक हो गया। अम्मां जी दोबारा बेटे के लिए चाय बनाने में व्यस्त हो गयीं। रजनी ने पूरी रसोई में पोंछा लगाया। साथ में बरनोल की ट्यूब लेकर मैं फिर ऊपर आ गयी। मां भी साथ थीं।

अपनी आठों उंगलियां उनके सामने करके मैंने कहा, "देखो तो मां, इतनी-सी देर में कैसे फफोले-से पड़ गये हैं।"

पर मेरे जले हुए हाथों को सहलाना तो दूर, मां ने उलटा उन्हें झटक दिया। आग्नेय दृष्टि से मुझे घूरते हुए बोली, "घर आये मर्द को एक कप चाय भी नहीं पिया सकती तू?"

मैं चुप।

"रोज खाना कौन बनाता है?"

"अम्मा जी ही बनाती हैं। या फिर रजनी।"

"या फिर पड़ोस की अर्चना?"

"अर्चना!" मैं मां का मुंह देखती रह गयी।

"ऐसे मुंह फाड़कर क्या देख रही है? जितनी बार आयी हूं, रजनी की यह सहेली रसोई में घुसी हुई मिली है। तुझे दीन-दुनिया का जरा भी होश है? बस, जब देखो, अपनी तबीयत का रोना लेकर बैठ जायेगी। अपनी गृहस्थी का जरा तो खयाल कर। पति हाथ से निकल जायेगा, तभी क्या तू चेतेगी? तब सिवाय हाथ मलने के कुछ हाथ नहीं आयेगा, बताये देती हूं।"

६

मां जैसे आग बरसाकर चली गयी थीं। पर मैंने उनकी बातों का बुरा नहीं माना। यह वे नहीं, उनकी ममता बोल रही थी।

पर मैं उन्हें कैसे बताती कि मैं इन दिनों मनोज से दो घड़ी बात करने के लिए तरस गयी हूं। वे सुबह-शाम आकर हाल पूछ जाते हैं, हर हफ्ते डाक्टर के यहां ले जाते हैं, इंजेक्शंस, दवाइयां समय पर ला देते हैं। पर इन सब कामों में कितनी आस्था है और कितनी औपचारिकता, पता नहीं चलता।

कितना मन होता है कि उनकी गोद में सिर छुपाकर एक बार जी भर कर रो लूं। कितनी इच्छा होती है कि वे मेरे बालों में उंगलियां फेरते हुए मुझे आश्वस्त करें कि जो कुछ घट गया, वही अंतिम सत्य नहीं है। कितना चाहती हूं कि वे अपने स्नेहिल स्पर्श से, मिश्रीघुलेस्वर से मुझे पीड़ा के, अपराध के, अकेलेपन के इस अहसास से मुक्ति दिलायें। पर अब उतना एकांत मिलता ही नहीं है। वे तो बस, पांच-सात मिनट के लिए कमरे में आते हैं। किसी जान-पहचानवाले की तरह हाल-चाल पूछकर चले जाते हैं। रात को मेरे पास रजनी सोती है। रजनी, जिसके साथ ननद-भाभी का वह मधुर रिश्ता कभी कायम न हो सका जो मुझमें और भाभी के बीच था।

अब तक तो मैंने मन को समझा लिया था कि वे इन दिनों मुझसे जान-बूझ कर दूरी बनाये हुए हैं पर मां की बात मन को कुरेद गयी।

उस दिन मेरा टानिक लेकर आये तो मैंने हाथ पकड़कर पास बिठा

लिया, "हरदम क्या भागमभाग मचाये रहते हो, घड़ी-भर तो पास बैठा करो।"

पर इससे पहले कि मैं कोई बात शुरू करूं नीचे से आवाज आयी, "भैया, चाय ठंडी हो रही है।"

आवाज सुनते ही वे एकदम उठकर खड़े हो गये।

"यहीं मंगा लेते न!"

"अरे नहीं। वह बेकार परेशान होगी। मैं ही ले आता हूं।"

वे जो गये तो वहीं के होकर रह गये। फिर शायद कोई मिलने भी आ गया। देर तक उनके कहकहे सुनाई देते रहे। मैं जली-भुनी छत पर बैठी रही।

रात को जब रजनी खाना लेकर आयी तो मैंने खुद ही अपना मान तोड़ दिया। रजनी के जाते ही अपनी थाली उठाकर उसके पीछे-पीछे मैं नीचे उतर आयी। तीनों एक साथ खाने पर बैठे थे। अम्मा जी बड़े मनोयोग से दोनों बच्चों को परोस रही थीं। भाई-बहन में परस्पर चुहलबाजी चल रही थी। मुझे एकदम अपने घर की याद आ गयी।

मुझे देखते ही तीनों ऐसे चौंके जैसे भूत देख लिया हो। उनका हास-परिहास एकदम थम गया।

"अरे, तुम नीचे क्यों आ गयीं, कुछ चाहिए था तो आवाज क्यों नहीं दे ली?"

"अब जिंदगी-भर क्या ऊपर ही बैठी रहूंगी? आठ-दस दिन बाद ड्यूटी भी तो ज्वाइन करनी है। अभी से आदत तो डालनी पड़ेगी।"

फिर किसी ने कुछ नहीं कहा। मेरे लिए जगह बना दी गयी। सब लोग चुपचाप कौर तोड़ने लगे। मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि मेरे आ जाने से उन्हें असुविधा हो रही है। उनके आनंद में खलल पड़ गया है। अब समझ में आया कि क्यों मेरी चाय, मेरा खाना निर्विघ्न रूप से ऊपर पहुंचता रहा है, नहीं तो, जैसा अम्मां जी का स्वभाव है, उन्होंने इस बात को लेकर अब तक तूफान मचा दिया होता।

चुपचाप चार निवाले गटककर उठ आयी। पिता की गोद में सोयी श्वेता को मैंने बिस्तर पर लिटाना चाहा—पर उसने नींद में भी मेरे हाथ

झटक दिये। इस तरह सबसे उपेक्षित होकर, हारी-सी, मैं अपने दड़बे में लौट आयी।

अगले दिन सुबह श्वेता अखबार देने आयी तो मैंने पूछा, "पापा क्या कर रहे हैं ?"

"नहा रहे हैं।"

"नहा लें तो उनसे कहना, मम्मी ने फौरन बुलाया है।"

वे तौलिया लपेटे, अंगोछे से सिर पोंछते हुए भागे-भागे ही ऊपर आये, "क्या हुआ ?"

मुझे इत्मीनान से बैठा हुआ देखकर थोड़े-से रुष्ट स्वर में बोले, "यह कोई तरीका है ! तुमने तो एकदम डरा दिया था। मैंने सोचा पता नहीं क्या बात है।"

"कोई बात होगी, तभी तुम मेरे पास आओगे। मतलब अब तुम्हें मेरे पास आने के लिए भी कुछ बहाना चाहिए ?"

"समझने की कोशिश करो कनु। आई एम सो बिजी दीज डेज।"

"बिजी तो तुम हमेशा से हो। लेकिन फिर भी सबके लिए समय निकाल लेते हो—सिवा मेरे।"

उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्या मेरा कोई हक नहीं है ?"

वे चुप।

"मैं अपनी बात कहूं तो कब कहूं, किससे कहूं ?"

वे खिड़की के पार देखते रहे।

"मैं क्या कह रही हूं, सुन भी रहे हो ? एक बार इधर देखो तो।"

"क्या देखूं ?" उन्होंने खीजकर कहा और पलटकर मुझे इस तरह घूरकर देखा कि मैं सहम गयी। मैंने अपनी दृष्टि हटा ली। वहां से हटते ही मेरी आंखें ड्रेसिंग टेबुल के बड़े से आईने पर टिक गयीं।

दर्पण में हम दोनों एक साथ प्रतिबिंबित हो रहे थे। उनका सद्यः स्नात सुडौल, सुदर्शन शरीर और उसके बगल में खड़ी मैं—मृत्यु के मुख से लौटी एक जर्जर काया, बिखरे बाल, बासी चेहरा। चेहरा जो सुंदर तो कभी भी नहीं था, पर इस समय तो असुंदरता की सीमा छू रहा था।

नहीं, दर्पण में हम दोनों की दृष्टि टकरायी। जो मैंने देखा, उसे वे भी अनदेखा नहीं कर सके। दोनों परछाइयों का वैषम्य उनकी आंखों में भी प्रतिबिंबित हो रहा था। एक ऊब, एक बेजारी, एक वितृष्णा के साथ मेरे प्रतिबिंब को घूर रहे थे वे।

"न-हीं," मैं जोर से चीखी और मैंने एक मुक्का आईने पर दे मारा।

दूसरे ही क्षण मुझे अंधेरे के अजगर ने लील लिया।

होश आया तो सिर बहुत भारी लग रहा था। हाथ से छूकर देखा, वहां भारी-सा बैंडेज बंधा था। इतना भारी कि उसके बोझ से सिर फटा जा रहा था। मन हुआ कि दोनों हाथों से उसे उतारकर फेंक दूं। पर दूसरा हाथ उठा ही नहीं। दाहिने हाथ की हथेली पर भी पट्टी बंधी हुई थी। चेहरा खिचा-खिचा-सा लग रहा था। उंगलियों से छूकर देखा, बायीं आंख के ठीक नीचे भी एक पट्टी चिपकी हुई थी।

"मां !" मैंने क्षीण स्वर में पुकारा। उस नीम बेहोशी की हालत में भी समझ गयी थी कि मेरे शरीर पर इतने प्यार से हाथ फेरनेवाला कौन है।

"मां !"

"क्या है बेटे ? कैसा जी है अब ?"

"सिर फटा जा रहा है मां।"

"टांके कसक रहे होंगे। बिटिया, थोड़ी देर में आराम आ जायेगा।"

"टांके ? मुझे टांके लगे हैं ?"

"हां-चार टांके आये हैं। वो तो कहो कि आंख बच गयी।"

"मां, मेरे हाथ में क्या हो गया है ?"

मां ने इस बार जवाब नहीं दिया। चुपचाप मुझे थपथपाती रहीं।

"मां ?"

"कनु—अब थोड़ा सोने की कोशिश करो। नींद में हीलिंग जल्दी होती है।" यह बड़े भैया की आवाज थी।

"भैया, मेरी गुड़िया—मेरी श्वेता कहां है ?"

"वह पार्क में गयी है।"

वड़ी देर वाद मनोज उसे लेकर आये।

"देखो वेटे, मम्मी वुला रही हैं।"

पर उसने मेरी ओर देखा ही नहीं। पापा के कंधे से चिपकी रही।

"आ जा मेरी गुड़िया, मेरे पास आ। इसे मेरे पास विठा दीजिए न प्लीज!"

वे उसे लेकर झुके पर उसने उन्हें कसकर पकड़ लिया। भैया ने उसे जवरदस्ती मेरे पास विठा दिया। जैसे ही मैंने उसे अंक में भरना चाहा वह चीख उठी, "डर लगता है पापा। हमें डर लगता है।" और उसने अपनी दोनों हथेलियों से मुंह ढांप लिया। पापा ने जैसे ही उसे उठाया, वह किसी भयभीत व्यक्ति की तरह उनसे चिपक गयी।

वे चुपचाप उसे लेकर वाहर चले गये।

मैं आंख फाड़े उन्हें देखती रह गयी। फिर मेरी आंखें पथरा गयीं। हाथ-पांव ऐंठ गये। कानों में एक ही वात हथौड़े की तरह वार-वार चोट करती रही, 'डर लगता है!' श्वेता को मम्मी से डर लगता है। अपनी मम्मी से।

इस वार आंख खुली तो मैं अस्पताल में थी। पीहर का पूरा कुनवा मुझे घेरे हुए था। यहां तक कि सुनील भैया, अनिल भैया भी थे। मेरी तवीयत देखने इतनी दूर से दौड़े चले आये थे। सव-के-सव मेरे लिए व्याकुल थे। मेरी हर इच्छा पूरी करने को आतुर, मेरा हर शव्द झेलने के लिए तत्पर।

उस भीड़ में जिन्हें खोज रही थी, वे नजर नहीं आये। दो दिन तक मेरी आंखें दरवाजे पर ही लगी रहीं। जव भी आहट होती, मुझे लगता वे ही आये हैं। पर वह कोई तीसरा ही होता। हताशा से मैं मुंह फेर लेती। उस आगंतुक के औपचारिक प्रश्नों का उत्तर भी न देती।

तीसरे दिन मुझसे नहीं रहा गया। भाभी से पूछ ही लिया, "भाभी, वे दिखाई नही दिये।"

"वे इलाहावाद गये हैं, अपने मामा के यहां।"

"अम्मां जी को छोड़ने।"

"और श्वेता ?"

"वह भी साथ गयी है। दरअसल उसी के लिए गये हैं। उस दिन वह थोड़ा डर गयी थी।" भाभी ने कहा और एकदम जबान काट ली, "शायद रजनी के लिए कोई लड़का देखने गये हैं। दो-चार रोज में लौट आयेंगे।"

भाभी ने शायद गलत सुना था। इलाहबाद में इनके कोई मामा जी नहीं थे। फिर तो रजनी के लिए लड़का देखने की बात ही ठीक थी। पर क्या इसी समय जाना जरूरी था ? या फिर जैसा कि भाभी गलती से कह गयी थी, श्वेता को कहीं घुमा लाने के लिए निरस्त गये हैं। क्या सचमुच वह इतना डर गयी थी ? क्या सचमुच मैं इतनी डरावनी लग रही हूं ?

पर आईने में अपनी शक्ल देखने की हिम्मत ही न पड़ी। भाभी से मैंने किसी तरह की जिरह नहीं की। चुपचाप बिस्तर पर पड़ी-पड़ी घर जाने के दिन गिनने लगी।

अस्पताल से जिस दिन छुट्टी मिली, मैं बहुत प्रसन्न थी। पिछली सारी कड़ुवाहट भुला कर मैंने एक नयी जिंदगी शुरू करने का निश्चय कर लिया था। पर टैक्सी जब अपने पुराने घर पर रुकी तो मैं चौंक पड़ी, "आप लोग मुझे यहां क्यों ले आये हैं ?"

"पहले भीतर तो चलो।" भैया ने डांट लगायी। गुस्से में पैर पटकते हुए मैं भीतर आयी और सोफे पर धम्म से बैठ गयी। कहां तो मैं यहां आने के लिए तरस रही थी और अब यहां आते ही दिमाग गरम हो गया।

"आप लोग मुझे यहां क्यों ले आये हैं ?"

"तो क्या करते ?"

"वे अभी लौटे नहीं हैं क्या ?"

"लौट भी आये हों तो हम तुम्हें वहां नहीं भेजेंगे।"

"क्यों ?"

"क्योंकि तुम्हें पागलखाने भेजने की वहां पूरी तैयारी हो चुकी है।"

"क्या ?"

"तुम्हारी पूजनीय सास सब जगह प्रचार करती फिर रही है कि तुम्हें ऐसे दौरे हमेशा से पड़ते हैं। तुम्हारी वजह से उन लोगों का जीना हराम

हो गया है। कभी भी, कुछ भी, कर बैठती हो। किसी दिन उलटा-सीधा हो गया तो उन लोगों को जेल जाना पड़ेगा। तुम्हारे इन्हीं लक्षणों से बच्ची तुम्हारे पास तक नहीं फटकती।"

"क्या?" मेरे हाथ-पांव फिर ऐंठने लगे, जबान तालू से चिपक गयी, पुतलियां चढ़ गयीं। भैया ने एकदम आगे बढ़कर मुझे कसकर पकड़ लिया और कड़ककर कहा, "ये क्या पागलपन है कनु! इस तरह तो तुम उनकी बात की पुष्टि कर रही हो। परिस्थिति से लड़ने का यह तरीका नहीं होता। इस तरह तो तुम जीत चुकी! हौसला रखो—तुम अकेली नहीं हो। तुम्हारे तीन-तीन भाई तुम्हारे साथ हैं।"

बेहोशी का वह दौरा आते-आते रह गया। पर मुझे भीतर तक हिला गया।

भाग्य मुझे जीवन के किस मोड़ पर ले आया था?

दूसरे दिन से घर में लोगों का तांता लग गया। ये सब मेरे अपने थे, मेरे गली-मोहल्ले के और परिवार के लोग थे, जिनके बीच पलकर मैं बड़ी हुई थी। ये लोग मेरे ससुराल की देहरी पर जाना नहीं चाहते थे। इसीलिए इतने दिनों तक कोई मुझे देखने तक नहीं आया। पर अब घर पर भीड़ लगी हुई थी। उनकी सहानुभूति, उनकी ममता बड़ा सुकून दे रही थी। इतने सारे लोग मेरे दुख से व्याकुल हैं, यह अहसास ही बड़ी तृप्ति देनेवाला था।

खबर मिलते ही पंडित जी भी आये। आते ही बोले, "यह क्या है बिटिया? वहां तो सबके चेहरे पर लक्ष्मी का तेज चढ़ रहा है। और घर की लक्ष्मी का क्या हाल है?"

"कौन-सी लक्ष्मी! क्या मेरी शकल आपको लक्ष्मी की-सी लगती है? मैं तो चुड़ैल हूं। मेरी अपनी बच्ची भी मुझसे डरने लगी है।" और कहते-कहते मेरी रुलाई फूट पड़ी। दो दिन में पचीसों लोग आये थे, सबने इसी तरह दुख और आश्चर्य व्यक्त किया था, पर सबके सामने मैं धीर-गंभीर बनी रही थी। पता नहीं क्यों, पंडित जी के सामने अपने को रोक न सकी।

वे मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए सांत्वना के कुछ शब्द बुदबुदाते रहे। पर उनसे शांत होने की अपेक्षा मैं और बिखर गयी, "कोई मेरे पास नहीं

आता अब। किसी को मेरे लिए फुरसत नही है, आपने भी तो अब आकर सुध ली है। इतने दिनों तक बिस्तर पकड़े रही, मौत के साये में झूलती रही—पर आपने कोई खबर न ली। और अब आकर पूछते हैं कि ये क्या हाल हो गया है?"

उनके जाते ही भाभी ने डाट लगायी, "जो भी मुह मे आया, कहती चली जाती हो। बडे-छोटे का तो खयाल किया करो। पता है, पडित जी बराबर तुम्हारे लिए पूछते रहे हैं। तुम्हारी ज्वालामुखी सास के कारण तुम्हारे घर नही गये तो क्या हुआ, यहा आकर बराबर खोज खबर लेते रहते थे। उन्ही लोगों के कारण वे अस्पताल भी नही गये। उन्हें क्या मालूम कि वहा एक दिन कोई झाकने भी नही आया।"

भाभी को क्या मालूम कि मेरा सारा रोष भी तो उन्ही लोगों के लिए था। पडित जी का तो सिर्फ बहाना भर था। सच तो यह है कि पडित जी की इतने दिनों कभी याद भी न आयी।

"भाभी, ये लोग इलाहाबाद से लौटे कि नही—जरा पता लगाना।"

"सच बात बताऊ, कनु, कोई नाटक तो नही करोगी? नही तो तुम्हारे भाई मुझे खा जायेंगे।"

"बताओ।"

"मनोज तो अस्पताल आये थे। दो दिन रहे भी थे। पर सुनील भैया ने आते ही उन्हें दो-चार खरी-खोटी सुना दी। अच्छी-खासी झडप हो गयी दोनों मे। तुम्हारे बडे भैया भी पीछे नही रहे। तब से उन्होंने आना बद कर दिया। लोगों की पूछताछ से बचने के लिए शायद कही बाहर निकल गये हैं।"

अपनी बात का उपसंहार करते हुए भाभी ने कहा, "बात सही भी थी, तब भी इतना तूल देना ठीक नही हुआ। वे तो लड़-झगडकर चले गये, पर यह नहीं सोचा कि बहन का क्या होगा।"

सच तो है, मेरा क्या होगा! इस अपमान के बाद क्या यहां वे आयेंगे? और उनके बुलाये बिना कौन-सा मुह लेकर मैं वापस जाऊंगी।

भाई लोग जिस ठसक के साथ ले आये हैं, क्या उतने ही सम्मान से मुझे रख सकेंगे ? मैं भी कितने दिन तक गलग्रह बनकर यहां पड़ी रहूंगी ?

भाभी ने ठीक ही किया जो पहले से आगाह कर दिया। यह सब सुन लेने के बाद मेरा फिर से बेहोश हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था। मेरे हाथ-पैर ऐंठने भी लगे थे। बड़ी मुश्किल से मैंने अपने पर नियंत्रण किया। मैं भाभी को किसी मुसीबत में डालना नहीं चाहती थी।

जीने का, ठीक होने का उत्साह ही जैसे जाता रहा। रूठा हुआ पति, खौफ खाती बिटिया, पागलपन का प्रचार करती सास, किसके लिए जिंदा रहना है मुझे। औरों से तो मुझे कुछ लेना-देना नहीं था। एक ये ही अगर अपने होते! अपने होते तो क्या मां के भ्रामक प्रचार का प्रतिवाद न करते, बिटिया के मन में पैठ गये मिथ्या भय को हटाने का प्रयास न करते? पर वे तो जीवन-मृत्यु के बीच झूलती पत्नी के सिरहाने बैठकर लड़ते रहे, आत्म-सम्मान की बातें सोचते रहे। उनके व्यवहार से लग रहा है कि मेरी बीमारी उनके लिए इष्टापत्ति बनकर आयी है। ऐसे व्यक्ति को कोई मनाये भी तो कैसे!

आज मां, भैया-भाभी जान छिड़क रहे हैं। उनके अकृत्रिम स्नेह की कब तक परीक्षा लेती रहूंगी ? उसे नकार कर चली भी जाऊं तो किस बल-बूते पर ? उठकर एक गिलास पानी पीना भी तो मेरे लिए कठिन हो गया है।

दिन-रात मैं इसी सोच में घुलने लगी। मेरा बिस्तर मां के कमरे में ही लगा दिया था। उस पर पड़ी-पड़ी दिन-रात मां के ठाकुर जी को निहारा करती। चांदी और पीतल की मूर्तियों से वह पीतल का सिंहासन खचाखच भरा हुआ था। अगल-बगल देवी-देवताओं की ढेरों तसवीरें थी। इन सबसे ऊपर साईंबाबा की एक फोटो थी जो अपने आकार-प्रकार के कारण अलग ही चमकती थी। मैं टकटकी लगाये उन्हीं को देखा करती, अपनी रिहाई की भीख मांगा करती।

एक रात इसी तरह लेटे-लेटे करुणा की याचना कर रही थी कि कुछ

पंक्तियां अनायास फूट पड़ीं :

शरण में अपनी बुला ले ओ साईं
दुविधा मन की मिटा दे ओ साईं
तन के सौ दुख झेल गयी मैं
मन के हाथों हार गयी हूं
अपने से ही छली गयी मैं
अपनों पर ही भार हुई हूं
दीप जला आशा का या फिर
मुझको जग से उठा ले ओ साईं

मैं तो हैरान रह गयी। क्या यह सचमुच मेरी पंक्तियां हैं या कहीं का पढ़ा-सुना याद आ रहा है। पर नहीं, वह मेरी ही अंतरात्मा की पुकार थी, मेरी ही पीड़ा गीत बनकर फूटी थी। और मजे की बात यह कि गीत के शब्द भी सुरों का साज पहनकर आये थे। कलावती की कर्णमधुर स्वरावलियों में पिरोये हुए उन बोलों को जोर से गाने का मन हो आया। पर आधी रात का वह सन्नाटा तोड़ने का साहस नहीं हुआ, सब लोग गहरी निद्रा में निमग्न थे। सबको सुबह होते ही काम में जुट जाना था। मेरी तरह दिन भर खाट तोड़ने का सुख किसी को नसीब नहीं था।

बड़ी मुश्किल से अपने को जब्त किया। रात भर मन-ही-मन उन स्वरों को दोहराती रही। सुबह होते ही सबसे पहले मैंने नहाने की इच्छा प्रकट की। भाभी को आश्चर्य तो हुआ पर उन्होंने जिरह नहीं की।

नल के सुर में सुर मिलाकर गाने की मेरी पुरानी आदत थी। आज तो और भी मजा आया। धुन भी मेरी, बोल भी मेरे—उधार का कोई झंझट ही नहीं था।

भाभी दरवाजा न थपथपातीं तो पता नहीं कब तक बैठी रहती। बाहर सब लोग डर गये थे। स्वाभाविक ही था, इतनी देर में सचमुच मुझे थकान हो आयी थी। बाहर निकलते ही पस्त होकर बिस्तर पर गिर पड़ी।

भैया एकदम दौड़ कर मेरी नब्ज टटोलने लगे।

उनसे कहा, "प्लीज, दफ्तर जाने से पहले हारमोनियम निकालकर रख जायेंगे ?"

मेरी शादी के वाद हारमोनियम संदूकों के कुतुवमीनार की निचली मंजिल पर आ गया था। मां ने तो तानपूरे के साथ इसे भी ले जाने के लिए कहा था पर मैंने ही मनाकर दिया था। भैया मौज में आकर कभी-कभार कुछ गुनगुना लेते थे। उनका यह सुख छीनने का मन न हुआ।

दिन भर मैं हारमोनियम पर उंगलियां फेरती रही। उसे वजाते हुए मेरी सांस भी धौंकनी की तरह वज उठती। फिर मैं थोड़ी देर को लेट जाती। जरा-सा आराम आते ही फिर उठ बैठती। अपनी ही वनायी धुन पर मैं मुग्ध हुई जा रही थी। मां मुझे देख-देखकर खुश हो रही थी। कोई जिद्दी वच्चा घड़ी भर को खिलौनों में रम जाये तो मां को जैसी खुशी होती है—वस, वैसी ही खुशी मां की थी।

मोहल्ले के शुक्ला जी के यहां से संकट सोमवार के प्रसाद का निमंत्रण आया तो मुझे याद आया कि आज सोमवार है, मतलव पंडित जी आज अवश्य आयेंगे। नीलकंठेश्वर जाते हुए वे अवश्य घड़ी भर को रुककर हाल-चाल पूछ जाते हैं, शाम को तैयार हो कर मैं घड़ी की ओर दृष्टि लगाये वैठी रही।

वे आते ही वोले, "आज तो वहुत प्रसन्न लग रही हो विटिया, क्या वात है ?"

"एक भजन वनाया है, सुनेंगे ?"

"जरूर," वे कुर्सी खींचकर वैठ गये, "वल्कि मैं तो तुमसे कहने वाला था कि रोज सुवह एक-दो भजन गाने का नियम वना लो। देखो, पंद्रह दिन में तुम्हारी सेहत वन जायेगी।"

मैं हारमोनियम लेकर वैठ गयी। सारा घर मेरे आसपास इकट्ठा हो गया। सवके चेहरे पर एक अपूर्व उल्लास था। मैं वड़ी देर तक उंगलियां फेरती रही। वाजे के स्वर साईं को पुकारते रहे, पर मेरे गले से आवाज ही न निकली।

"कमजोर हो अभी। दोनों काम एक साथ न कर सकोगी। लाओ, मुझे दो।"

वे वहीं मेरे पास दरी पर वैठ गये। मेरी धुन को उन्होंने वड़ी सहजता से उठा लिया और उनकी उंगलियों से रस के सोते फूट पड़े।

"गाओ बिटिया।"

पर बिटिया गाती क्या खाक ! आवाज तो निकले। सुबह बाथरूम में कितना सुन्दर समां बंध गया था। उस समय सचमुच मैंने गाया था या नल की धार में अपनी आवाज को आरोपित कर दिया था।

"थोड़ी नीचे से उठा लें ?"

और बड़ी आसानी से वे दो सुर नीचे उतर आये। जीवन में पहली बार काली तीन से गाने का अवसर था। लगा जैसे अपनी आवाज को किसी गड्ढे में खींचकर निकाल रही हूं। वहां से तो निकाल लिया, पर उसके बाद ठप्प। खींच-तानकर धैवत तक ले गयी। पर वहां तक जाते-जाते ही दम फूल गया। आवाज फट गयी, बिखर गयी।

कांपती हथेलियों में चेहरा छिपाकर मैं सुबक पड़ी। कानों में पंडित जी की आवाज आ रही थी, "कोई बात नहीं बेटे। बहुत दिनों बाद गाया है न, इसीलिए ८-१० दिनों के अभ्यास से सब ठीक हो जायेगा।"

उसके बाद मुझे कुछ सुनाई ही नहीं दिया। मैं उसी तरह हथेली में मुंह छिपाये ही सुबक गयी।

६

पांच महीने की लंबी छुट्टी के वाद एक अच्छा-सा दिन देखकर मैंने काम पर जाना शुरू कर दिया। कमजोरी अव भी वहुत थी पर कभी-न-कभी पहल तो करनी ही थी। वैसे स्टाफ के लोग वहुत सहृदयता से पेश आये।

वैसे भी, शरीर तो अव स्वस्थ हो चला था। मानसिक तनाव भर वाकी था पर उससे उवरने का एक ही उपाय था। उस दिशा में भी पहल करनी ही थी।

एक दिन मैंने पूछ ही लिया, "भैया, मुझे घर कव भेजेंगे ?

"तुम्हें यहां कोई तकलीफ है ?"

"क्या तकलीफ होगी, तभी अपने घर जाऊंगी ?" मैंने सूखी हंसी हंसकर कहा।

"वहां किसी को तुम्हारी जरूरत भी है ?"

मुझे तो है—मैंने कहना चाहा पर सख्ती से होंठ भींच लिये। मुझे चुप देखकर भैया वोले, "तुम्हारा घर है, जव चाहे जा सकती हो। मैं टोकूंगा नहीं। पर वहां जो कुछ देखकर आया हूं···"

"आप गये थे ?" मैं उत्सुक हो उठी।

"हां, दो वार गया था। तुम्हारे कपड़े, तुम्हारी दवाइयां लेने के वहाने से गया था।"

"फिर ?"

"फिर क्या, तुम्हारी सास बरसती रहीं, जली-कटी सुनाती रहीं।"

"मेरे रूप-रंग का उलाहना दिया होगा।"

"तुम सब जानती तो हो," भैया बोले, अब तुम्हारी बीमारी भी इनके साथ जुड़ गयी है। कह रही थीं कि भोले-भाले लड़के को अकेला पाकर हम लोगों ने फांस लिया।

ओह! मैं कुछ क्षण चुप रही। फिर पूछा, "और भोला-भाला लड़का क्या बोला?"

"एक बार तो श्रीमान जी मिले ही नहीं। दूसरी बार मैं समय साधकर गया था। तब भी एक शब्द नहीं बोला। टुकुर-टुकुर देखता हुआ मां का भाषण सुनता रहा।"

"मेरे बारे में पूछा भी नहीं?"

"नहीं। मैंने कुछ सर्टिफिकेट्स मंगवाये थे। कहा था कि घर दे जाना। वह भलामानुस दफ्तर में आकर दे गया। अब वहां इतने लोगों के सामने क्या कहता, क्या सुनता?"

एक और प्रश्न मन में कुलबुला रहा था, श्वेता कैसी है? पर मैंने उसे लौटा दिया। डर था कि पूछते हुए मैं रो ही पड़ूंगी।

"वहां सब लोग बड़े मजे में हैं कल्लू," भैया ने जैसे मेरे मन की बात जानकर कहा, "देखकर लगता ही नहीं कि किसी के बीमार होने से उन्हें कोई चिंता खाये जा रही है। गृहिणी के न होने से घर में कोई असुविधा हो रही है।"

अगले पंद्रह दिन मैं फिर बैंक नहीं जा सकी।

"कल्याणी दीदी!"

अपनी धुन में सड़क पर चली जा रही थी। नाम सुनकर चौंकी। देखा, अठारह-उन्नीस साल का एक किशोर साइकिल से उतरकर मेरे रास्ते में खड़ा हो गया है।

"नमस्ते!" मुझसे दृष्टि मिलते ही उसने शरीफ बच्चों की तरह हाथ जोड़कर नमस्कार किया, जबकि उसकी आंखों से शरारत टपक रही थी।

"आप—आप मुझे कैसे जानते हैं ?"

"वाह, जानूंगा क्यों नही ? आप मेरी गुरु बहन जो हैं।"

"मतलब—आप..."

"जी हां, गुरु जी का नया रंगरूट हूं। पर इतना नया भी नहीं कि आपको न पहचानूं।"

"पर मैं तो आपको..."

"नही जानतीं, यही न ! जानेंगी। जरूर जानेंगी। चार-पांच साल जरा सब्र कर लीजिए। फिर आप तो क्या, हर संगीतप्रेमी मेरा नाम जान जायेगा।"

"इस समय आप ही बता दें तो कृपा होगी..."

"क्यों नही, क्यों नही। मेरा नाम है श्रीरंग। पर प्यार से लोग मुझे श्री भी कहते है।" उसने फिल्मी तर्ज में जवाब दिया। मेरी गंभीरता ने हथियार डाल दिये। हंसते हुए मैंने पूछा, "हां तो श्री श्रीरंग जी, बताइए मैं आपके लिए क्या कर सकती हूं ?"

"बहुत कुछ। मतलब कल दोपहर को बगीची में भोजन के लिए पधार कर मेरा श्रम सार्थक कर सकती हैं।"

"कल ! कल क्या है ?"

"गुरुपूर्णिमा है, गुरु जी का जन्म दिन है।"

ओह ! कितनी पुरानी बात याद दिला गया वह लड़का। किसी दूसरे जन्म की बात लगती है। अब तो पांच साल में आदमी इतना बदल जाता है।

गुरु-घर के ये दो ही तीन उत्सव तो थे। एक बड़ी गुरुपूर्णिमा थी जो आषाढ़ में पड़ती थी। इसका आयोजन हम सब शिष्य मिलकर ही करते थे। महीने भर पहले से तैयारी शुरू हो जाती थी। सुबह गुरु पूजा, होम-हवन शाम को महफिल। पता नहीं कितनी बार इस महफिल में गाकर मैंने प्रशंसा लूटी है।

एक होती थी गुरुअष्टमी। माघ महीने में पड़ती थी। इसका आयोजन पंडित जी स्वयं करते क्योंकि यह उनके गुरुमहाराज की पुण्यतिथि होती थी। इस दिन संगीत प्रतियोगिताएं होती थीं। पंडित जी विजेताओं को अपनी

और स पुरस्कार बाटते थे। इस विशिष्ट कार्यक्रम मे सरस्वती वंदना गाने का सम्मान मुझे वर्षो मिलता रहा।

एक और गुरुपूर्णिमा होती थी—कातिक पूनो। यह पंडित जी का जन्मदिन था। एक तरह से यह जिया का ही उत्सव था। वे कथा करवाती और नये-पुराने शिष्यों को निमन्त्रित करतीं।

पडित जी अपने शिष्यो से बधी-बधाई फीस नही लेते थे। जिसे जो देना होता, इन्ही पर्वो पर दे देता। किसने क्या दिया, कितना दिया—इसकी कभी चर्चा नही होती थी। मा को पडित जी से ज्यादा जिया पर आस्था थी। इसीलिए वे हर साल एक अच्छी-सी साडी सौगात मे भेजती।

विवाह के बाद एकाध साल तो मैं इन आयोजनों मे गयी। वहां गाया भी। फिर धीरे-धीरे सब कुछ छूटता-सा गया।

इस निमत्रण की अवहेलना असभव थी। पर जाती भी तो किस मुह से ? उस दिन के लज्जास्पद प्रसग के बाद क्या पडित जी का सामना कर सकूगी ? वे तो जीवन भर अपनी आत्मा का सगीत निरपेक्ष भाव से लुटाते रहे हैं। पर उनके इस दिव्य दान का मैंने कैसा मजाक बना डाला ? क्या इसके बाद भी मुझे शिष्य कहलाने का अधिकार रह जाता है ?

छुट्टी थी, फिर भी मैं बगीची नही गयी। मैंने मा को हवा भी नहीं लगने दी। उनके लिए गुरु ईश्वर से भी बढ़कर होता है। चाहे वह अध्यात्म का हो या संगीत का। भनक भर पा जाती तो भेजकर ही दम लेती।

गुनगुनी धूप मे बैठकर बाल सुखा रही थी कि वह आकर खडा हो गया। यमदूत की तरह कमर पर दोनो हाथ रखकर बोला, "चलिए।"

"देखो श्रीरंग, ऐसा है…"

मैं बहाना टटोलने लगी। मेरी बात काटकर वह बोला, "कल मैंने अपना पूरा परिचय नहीं दिया था। गुरु जी का चेला तो हू ही। पर उससे पहले मा का लंगूर हूं। आपको लाने की आज्ञा हुई है, लेकर ही जाऊगा।"

"अगर न जाना चाहू तो।"

"उठाकर ले जाऊगा।"

"देखो श्रीरंग, तुम जानते हो, मेरी तबीयत ठीक नहीं है। अभी खाना-पीना…"।

"वहां क्या कोई खाने के लिए जाता है?"

"तुम्हें मालूम है, मैं इतने दिनों से घर पर बैठी हुई हूं। खाली हाथ वहां जाते अच्छा नहीं लगता।"

"वहां क्या सिर्फ देने के लिए ही जाते हैं?"

"तो फिर?"

'आप मुझसे पूछ रही हैं?" वह एकाएक उत्तेजित हो उठा, "वहां कोई आपके लिए पथ्य का खाना बनाकर बैठी है तो किसलिए? आपकी तबीयत का हाल जानने के लिए मुझे भेजा है तो किसलिए?

जानती हैं, मुझे अपनी खड़खड़िया साइकिल भी न लाने दी। बोलीं, बीमार है—रिक्शे में लेकर आना।' और यह सब वे किसलिए कर रही हैं? क्या इसलिए कि आप जाते हुए सौ-पचास रुपये या एकाध जोड़ी धोती लेकर जायेंगी? वाह दीदी, ममता की क्या कद्र की है आपने! मैं तो आप-को बहुत समझदार मानता था।

उसकी तमतमायी आवाज भीतर तक भी पहुंची होगी। मां और भैया घबराकर बाहर निकल आये, "क्या हुआ?"

"कुछ नहीं," वह एकदम अबोध शिशु-सा सौम्य हो आया, "गुरु महाराज का जन्मदिन है आज। जिया ने दीदी को भोजन पर बुलाया है।"

"अच्छा तभी," भैया बोले, "कल दफ्तर से लौटते हुए देखा था। तमाम झंडी-पताकाएं लगी हुई हैं। मैंने सोचा कि मंदिर में कोई उत्सव होगा।"

"उत्सव तो है ही। गुरु महाराज का पचहत्तरवां जन्मदिन है। हम अमृत महोत्सव मना रहे हैं।"

"अरे बेटा," मां बोलीं, "तुम्हारी दीदी इन सब कामों में अगुआ हुआ करती थी। बेचारी बीमारी के कारण पस्त हो गयी है।" फिर मुझसे बोलीं, "जा बेटे, तैयार हो जा।"

अब मना करने का कोई सवाल ही नहीं था। चुपचाप जाकर कपड़े बदल लिये। चलने लगी तो भैया ने हाथ में एक लिफाफा पकड़ा दिया।

उसमें ग्यारह थे, इक्कीस थे या एक सौ एक—मैंने जांचने की कोशिश नहीं की। पहले यह दायित्व बाबू जी निभाते थे। उनके बाद बड़ी सहजता से यह काम भैया ने अपने ऊपर ले लिया था।

सड़क पर आते ही उसने कहा, "यह जो आप साथ लेकर आयी हैं, मेहरबानी करके पर्स में ही रखिएगा। नहीं तो हंगामा हो जायेगा।"

"क्यों?"

"इसलिए कि मैं नहीं चाहता कि आपको किसी किस्म का घाटा हो। पहले आप इत्मीनान से बाजार भाव मालूम कर लीजिए। तब तय करेंगे कि जो कीमत आप अदा कर रही हैं वह…"

"ओ…" मैंने तड़पकर उसकी बाजू थाम ली।

पता नहीं यह मेरा स्पर्श था या मेरी आवाज—पर वह पिघल गया। भीगे हुए स्वर में बोला, "आपको मैं क्या समझाऊंगा? आप तो मुझसे हर प्रकार से ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं। दीदी! एक बात बताइये, यहां आकर हम जो पाते हैं। क्या सचमुच उसका मोल कभी दे पाते हैं?

मैं ठिठककर खड़ी हो गयी। इच्छा हुई कि बीच रास्ते में उस बित्ते भर के लड़के के पैर छू लूं। आशीर्वाद मांग लूं।

मुझे तो पता भी न था कि गोबर-मिट्टी से लिपे-पुते उन दो कमरों में मेरी चेतना का एक अंश छूट गया है, वहां पहुंचते ही जो मुझसे लिपट गया और बिलखकर कैफियत मांगने लगा कि इतने दिनों तक मैं कहां रह गयी थी।

जिया की परिचित रसोई में पहुंचते ही मैं भूल गयी कि अब मैं भी मां बन गयी हूं। वे जब मनुहार करके मेरे लिए विशेष रूप से बनाया गया दाल-भात, फुलके आदि परोसने लगीं तो मैं एकदम बच्ची बन गयी और कचौड़ी के लिए, अचार के लिए जिद करने लगी। उन्होंने जब कसकर एक डांट लगायी तो मेरा बचपन जैसे लौट आया।

सारे रास्ते यही सोच बना हुआ था कि पंडित जी के सामने क्या मुंह लेकर जाऊंगी। पर यहां आते ही सारा संकोच विला गया। वे बाहरवाले

कमरे में अपने नये-पुराने शिष्यों से घिरे बैठे थे। उनके सुसज्जित आसन के पास भेंट-सामग्री का अंबार लगा हुआ था। मैंने उन सबको अनदेखा कर के निस्संकोच उनके चरणों में मत्था टेक दिया। अपना वरदहस्त मेरे सिर पर फेरते हुए जब उन्होंने आशीर्वाद दिया, तब लगा ही नहीं कि मैं एक अकिंचन, अनिकेत, असहाय स्त्री हूं—दूसरों की करुणा पर पलनेवाली एक अबला नारी हूं।

चलते समय उन्होंने कहा था, "बिटिया, जब भी मन उदास हुआ करे, यहां चली आया करो।" उनके इन शब्दों को उनका दुलार मान कर मैं गद्‌गद् हो आयी थी। पर तब यह नहीं सोचा था कि उनकी अंतदृष्टि ने मेरा भविष्य देख लिया है और इसीलिए मुझे अभय दे रहे हैं।

किसे पता था उनके स्नेह-निमंत्रण को इतनी जल्दी साकार करना पड़ेगा ?

दशहरा आकर चला गया था, दीवाली भी यों ही बीत गयी थी। शरीर से, मन से इतना टूट गयी थी कि कमरे में मुंह छिपाये पड़ी रही। मेरी वजह से भैया-भाभी का त्योहार भी फीका रहा। निखिल, नीता न जी भरकर पटाखे चला सके, न हुड़दंग मचा सके।

पर कैलेंडर में जनवरी की आठ तारीख देखते ही मेरा मन मचल गया। यह श्वेता का जन्मदिन था। एक ही शहर में रहते हुए मेरी बच्ची अनाथों की तरह उपेक्षित रहे, जन्मदिन पर मां का आशीर्वाद भी न पा सके, यह मुझसे सहन नहीं हुआ।

घर पर मैंने केवल यही बताया कि शाम को लौटने में देर हो जायेगी। पूरी बात बता देती तो शायद भैया मुझे जाने न देते। या स्वयं साथ आने का आग्रह करते। दोनों ही बातें मुझे स्वीकार्य नहीं थीं।

ऑफिस से मैं सीधे बाजार गयी। नेट की एक गुलाबी फ्रॉक खरीदी। टॉफी का एक बड़ा-सा डिब्बा लिया। जिस पर नर्सरी राइम्स लिखी हुई थीं—और अंत में शरबत पीती हुए एक गुड़िया भी खरीदी। ये सारी खरीदारी करते समय मन आनंद और उल्लास की तरंगों पर झूलता रहा। उन्हीं तरंगों पर चढ़कर मैंने रिक्शेवाले को अपने घर का पता दिया। मैं स्वयं तो वहां पता नहीं कब से पहुंच गयी थी।

रिक्शा जैसे ही आखरी मोड़ पर मुड़ा, लाउडस्पीकर का कर्णकटु संगीत कानों से टकराया। हैरत तो यह थी कि यह डिस्को गान मेरे ही छज्जे से निःसृत हो रहा था। घर के बाहर छोटा-सा चंदोवा तना था जिसमें करीने से कुर्सियां लगी हुई थीं। नीचे गमले और ऊपर गुब्बारे लगा कर वातावरण को सुशोभित करने का प्रयास किया गया था। मेरी नीली चंदेरी साड़ी पहने रजनी गेट के सामने अल्पना मांड़ रही थी।

अपना घर समझकर बैंक से सीधे चली आयी थी। अब इस मजेमदार माहौल को अपनी उपस्थिति से बदरंग करने का मन नहीं हुआ। स्वागत की आशा वैसे भी नहीं थी। केवल मेरा मां का मन मुझे यहां खींच ले गया था। पर जिसके लिए अपना मान-सम्मान ताक पर रखकर चली आयी थी, क्या वह भी मेरी ममता को समझ सकेगी या पहले की भांति झिड़क देगी? औरों की अवहेलना तो मैंने झेल ली है पर क्या उसका तिरस्कार सह पाऊंगी?

रजनी जब तक मुड़कर पीछे देखती मैंने रिक्शा लौटा लिया था।

घर लौटने का भी मन नहीं हुआ। सीधे बगीची में आ गयी। साध्य-आरती का समय था। इक्का-दुक्का भक्तगण जुड़ आये थे। रेशमी धोती पहने पंडित जी श्री रघुनाथ जी की आरती उतार रहे थे।

मेरा मन दस-पंद्रह साल पीछे लौट गया। ऐसी ही एक साध्य वेला में बाबू जी गुरु चरणों में डाल गये थे। कितनी उमंग से मैंने दीक्षा ली थी। कितनी आशा से उन्होंने अनुग्रह किया था। उसके बाद?

चरणामृत देते समय पंडित जी ने मुझे देखा, "अरे बिटिया, तुम?"

मैं फीकी-सी हंसी हंस दी।

"चलो, कमरे में चलकर बैठो। हम आते हैं।"

जिया को पुकारते हुए ही मैं घर में दाखिल हुई पर उनका कहीं पता न था। उनकी रसोई में श्री महाराज खटर-पटर करते नजर आये।

"क्या हो रहा है?"

वह बुरी तरह चौंक गया। पर मुझे देखते ही उसका चेहरा एक सरल हंसी से उद्भासित हो उठा। मुझे लगा जैसे ताजी हवा का झोंका मुझे छू कर निकल गया है। मन तरोताजा हो गया।

"ये क्या उठापटक कर रहे हो ? जिया देखेंगी तो जमकर पिटाई कर देंगी।"

"जिया हैं कहां ? वे तो भतीजे की शादी में गयी हैं। यह भानुमती का पिटारा मुझे सौंप गयी हैं। अब वहां खड़े-खड़े क्या कर रही हैं। जरा आ कर हाथ बटाइए।"

"फरमाइए।"

"खिचड़ी बनाने का हुक्म हुआ है। मुझे उड़द की और मूंग की दालों में फर्क ही पता नहीं चल रहा।"

मैंने उसकी मुश्किल आसान कर दी। सारे डिब्बे यथास्थान रखते हुए पूछा, "खाना कौन बनाता है ?"

"देख तो रही हैं।"

"हे भगवान ! मुझे तो पंडित जी की चिंता होने लगी है।"

"तो आप आकर बना दिया कीजिए न ! आप तो लाट साहब की तरह रिक्शे पर आयेंगी, रिक्शे पर जायेंगी। अभी जो रिक्शा रुका था, वह आप ही का था न ! अपन तो भई, गुरुसेवा में विश्वास करते हैं। उलटी-सीधी जैसी भी बन पड़ती है, कर देते हैं। विद्या इतनी आसानी से थोड़े ही मिलती है।"

"हम तो तुम्हारी तरह सेवा नहीं कर पाये। तभी न विद्या हमसे रूठ गयी है।"

"अरे नहीं—आपकी तो यहां सब लोग कितनी तारीफ करते हैं। कितना मन होता है आपको सुनने का, अच्छा, उस दिन शाम के कार्यक्रम में आप क्यों नहीं आयीं ?"

"तुम्हारे डर से—कहीं मुझे उठाकर मंच पर बिठा देते तो फजीहत होती कि नहीं।"

"चलिए, इस बार माफ कर दिया। पर गुरुअष्टमी के दिन नहीं छोड़ूंगा, कहे देता हूं। अब तो मैंने घर भी देख लिया है। वहीं से उठाकर ले आऊंगा।"

"क्यों रे, बिटिया को क्यों परेशान कर रहा है !" पंडित जी एकदम सामने आकर खड़े हो गये तो वह सकपका गया। उसकी घबराहट का मजा

लेते हुए मैंने कहा, "मुझे धमकी दे रहा है कि अष्टमी के उत्सव में नहीं आयी तो घर से उठा ले आऊंगा।"

"तब तो तुम तैयारी से रहना बिटिया, यह दुष्ट ग्रह एक बार पीछे पड़ गया तो खैर नहीं है।"

उसने भागने का मौका ढूंढ़ा, "गुरु जी, दही ले आऊं?"

"ले आओ। पर जरा जल्दी आना। फिर कनु को छोड़ने भी जाना है।"

"रिक्शा लेता आऊं?" उसने मासूमियत से पूछा और मेरी ओर देख कर शरारत से मुस्करा दिया।

"बहुत शरारती है।" उसके जाते ही मैंने कहा।

"अरे बहन—तुम्हारी जिया यहां होती है, तब देखना। दोनों की युगलबंदी सुन-सुनकर कभी मेरे कान पक जाते हैं।"

"नया ही आया है न! किसका लड़का है?"

अपनी चौकी पर बैठते हुए पंडित जी बोले, "ये अनाथ है बिटिया? जबलपुर के पास किसी गांव का रहनेवाला है। यहां उसकी बड़ी बहन ब्याही है। एक साल छुट्टियों में बहन के पास आया हुआ था। उधर गांव में एक दिन ऐसी आग लगी कि उसका घर, माता-पिता और छोटी-बहन—सब अग्नि की भेंट चढ़ गये। तब से यहीं पर रह गया है।"

"ओफ, कितनी दर्दनाक घटना है।

"वही तो बता रहा हूं। चौदह-पंद्रह साल का दुधमुंहा बच्चा, इतना बड़ा आघात सहन न कर सका। एकदम पगला-सा गया। न हंसता, न बोलता। बस, दिन भर एक कोने में गुमसुम बना बैठा रहना। बहन अपने दुख से बेहाल। उसे समझाये तो कौन? बहनोई परेशान हो गये। तब डाक्टरों ने ही कहा था इसमें गाने-बजाने का कोई शौक पैदा करो। समय भी कट जायेगा और दिल भी लगा रहेगा।

तब इसके बहनोई मेरे पास लेकर आये। मुझे भी करुणा हो आयी। एक-दो दिन परखकर मैंने उसे तबला थमा दिया। एक वही साज था जिसमें इसके मन का हाहाकार डूब सकता था।"

मैंने अनायास ही उनके पैर छू लिये। चरण-रज माथे से लगाते हुए

कहा, "भाग्य ही उसे आपके दरवाजे ले आया होगा। नहीं तो लड़का सच-मुच पागल हो गया होता। ऐसी कायापलट तो यहीं संभव थी।"

"कायापलट सिर्फ तबले से नहीं हुआ है, गंडा बांधते समय मैंने एक मंत्र भी दिया था।"

"कौन-सा ?"

"जो अपने पास नहीं है, कभी हो नहीं सकता, उसके लिए त्रिसूरते मत रहो। जो है, उसे प्रभु का प्रसाद मानकर ग्रहण करो, जतन करो··· और कनु बेटे, आज यही बात तुमसे भी कहने को जी चाहता है।"

मैं चुप हो रही।

"एक बात कहूंगा तो बुरा तो न मानोगी ?"

"कहिए···"

"यह तो तुम जानती हो कि अभिमान करने योग्य रूप तुम्हारे पास कभी नहीं था।"

मैं एकदम सुलग उठी, "पर मैं इतनी असुंदर भी नहीं थी कि बराबर कोई मुझे कोंचता रहे। इतनी कुरूप नहीं थी कि मेरा अपना खून भी मुझसे नफरत करने लगे।"

"यही तो मैं समझाने का यत्न कर रहा हूं। तुम्हारे पास विद्या थी, स्वर था—बस, रूप नहीं था। तुम्हारे दुश्मनों के पास केवल रूप था। वे अच्छी तरह जानते थे कि यही एक क्षेत्र है जहां तुम मात खा जाओगी। इसलिए उसी एक हथियार से वे तुम्हें बार-बार पछाड़ते रहे। तुम पागलों की तरह अपने पर कुढ़ती रहीं। अपनी शक्ति का तुम्हें विस्मरण हो गया—तुम यह भी भूल गयीं कि तुमने मनोज को सबसे पहले अपने स्वर से ही सम्मोहित किया था।"

"तब वे फ़ुरसत में थे पंडित जी।"

"और अब उसके पास समय नहीं है, यही न ! तो इसलिए क्या तुम गाना छोड़ दोगी ? आज सारी दुनिया अपनी भागमभाग में व्यस्त है तो क्या कोयल चुप हो जाये। यह तो ईश्वर के वरदान का अपमान करना हुआ।"

"तो मैं क्या करूं बताइए।"

"किसी दिन तुम्हें बहुत ऊंचाई पर पहुंचाने का सपना देखा था। पता नहीं कहां से यह मनोज टपक पड़ा और सब छिन्नभिन्न हो गया। मैं तुम्हें दोष नहीं देता। अपने रूप-रंग को लेकर कोई हीनबोध था तुम्हारे मन में। मनोज जैसे सुदर्शन पुरुष का प्यार पाते ही तुम्हारा अहं पुलकित हो उठा। तुम्हें अगला-पिछला सब कुछ भूल गया। तुम्हें उस आवेग में निर्बाध बहते हुए चुपचाप देखता रहा। उस समय कुछ भी कहना-सुनना व्यर्थ था। आज तुम अपनी सारी साधना मिट्टी करके मेरे पास आयी हो—पूछती हो कि मैं क्या करूं। अब तो मेरे पास उतना समय भी नहीं है बिटिया। लेकिन जब तक मैं हूं, तुम यहां आया करो। तुम्हारा खोया हुआ आत्मविश्वास भी फिर से दिला सका तो समझूंगा, मेरा श्रम सार्थक हो गया।"

८

जिनकी छांह तले बैठकर श्रीरंग अपना इतना दारुण दुःख भूल गया था, वहां मुझे शांति न मिलती, यह असंभव था। मेरा तो वह जाना-पहचाना ठौर था। वैसे भी भैया-भाभी के शांत जीवन में लहरें उठाने से तो दो घड़ी यहां बैठना बेहतर था। बेचारे खुलकर हंसने बोलने को तरस गये थे। मेरा अहसास एक बोझ की तरह हरदम मन पर लदा रहता। सुनील भैया तो लड़-झगड़कर अपने सुरक्षित दड़बे में जाकर दुबक गये थे। तबसे खबर भी नहीं ली कि कनु मरती है या जीती है। मुसीबत भैया-भाभी उठा रहे थे, बड़े होने का दंड भुगत रहे थे।

इस बार मैंने अपनी जगह बदल ली थी। मैं जिया की रसोई में दरवाजे के पास बैठी रहती। जिया की जगर-मगर गृहस्थी को देखती हुई मटर की फलियां छील देती या मेथी का साग बारीक काट देती। बाहरवाले कमरे में पंडित जी विभिन्न आयु वर्ग के शिष्यों को संगीत के पाठ देते रहते। कोई तबला सीखता, कोई गायन—कोई सितार सीखनेवाला रागज्ञान के लिए आ जाता।

इनमें से बहुत कम थे जो भविष्य में भी संगीत-साधना करते। लड़के रोजगार की तलाश में निकलते ही गाना-बजाना भूल जानेवाले थे, गृहस्थी के झंझट में लड़कियों का भी यही हश्र होने वाला था। कुछ तो बस, इस-लिए सीख रही थीं कि लड़केवालों को बताया जा सके कि गाना भी आता है।"

यह कोई नयी बात नहीं थी। यह इतिहास बार-बार दोहराया जा चुका था। पंडित जी इस कटु सत्य को जानते थे। फिर भी वे उसी तन्मयता से अपना ज्ञान दोनों हाथों से उलीचते रहते।

कभी-कभी हारमोनियम पर सुर लगाने के लिए मुझे भी बाहर बुला लेते। नौसिखिये से कोई तान नहीं उठती तो मुझसे दोहराने के लिए कहते। शुरू-शुरू में तो थोड़ी घबराहट हुई। फिर लगा कि यह तो अपने बांये हाथ का खेल है। कभी आकाशवाणी का कोई ताजा-ताजा गायक भजनों की कापी लेकर आ पहुंचता। कभी किसी स्कूल की दीदी कोरस गीतों का गट्ठर लिये आ धमकती। स्नेह-सम्मेलनों का मौसम चल रहा था। गजल गायकों की बाढ़-सी आयी हुई थी। वे लोग भी कभी-कभी रास्ता भूलकर इधर आ निकलते।

इन लोगों के लिए पंडित जी ज्यादा सिर नहीं खपाते। नोटेशन लिख-कर मुझे दे जाते या उन्हें पूरी तरह मेरी दया पर छोड़ देते। उनके कच्चे गलों में अपनी सुरावट बिठाते हुए सर्जना का सुख प्राप्त होता।

बरसों बाद फिर से मिली सुरों की संगत ने ऐसा मोह लिया था कि मैं घर पर भी रहती तो गुनगुनाया करती। सब लोग इसे मेरी खुशी का प्रतीक मानते और खुश हो जाते। उनकी खुशफहमी को मैंने भी तोड़ने की चेष्टा नहीं की।

बैंक में काम करते हुए भी कोई-न-कोई स्वरलहरी मन की घाटियों में चक्कर लगाया करती। तब फिर अनायास याद आ जाता, अरे, यह तो वही बंदिश है जो कल पंडित जी संध्या को सिखा रहे थे। संध्या देसाई इन दिनों उनकी प्रिय शिष्या थी। उसे देखकर अपना बचपन याद आ जाता था। पता नहीं कहां-कहां की दुर्लभ और मुश्किल बंदिशें पंडित जी उसे सिखाते जा रहे थे। कई चीजें तो उसकी औकात से परे थीं। जरा-सी तो थी बेचारी।

कई बार लगता कि यह तो सरासर अन्याय हो रहा है। मेरे समय तो इतनी कंजूसी बरती गयी कि तीन-तीन महीने तक एक ही राग का घोंटा लगता रहा और अब उसके सामने खजाना खोलकर रख दिया गया है। उस बेवकूफ को समेटने का भी शऊर नहीं था। कई बार कोई नाजुक-सी

जगह उसकी पकड़ाई में नहीं आती तो पंडित जी हताश हो उठते। उसांस भर कहते, "जल्दी-जल्दी सीख लो बच्चों। अब ज्यादा समय नहीं रहा।"

जिया के साथ गेहूं फटकती हुई मैं उस बंदिश को जस-का-तस यादकर लेती, पर मान किये बैठी रहती।

गुरुअष्टमी की तैयारी जोरों पर थी।

पंडित जी के शिष्यों में तो उत्साह होना स्वाभाविक ही था। पर उत्सव की शहर में भी बड़ी उत्सुक प्रतीक्षा रहती थी। इस अवसर पर होने वाली प्रतियोगिताओं का बड़ा आकर्षण था और रसिक लोग उन्हें सुनने के लिए अवश्य आते थे।

उस दिन लड़के लोग बैठकर निर्णायकों के नामों पर विचार कर रहे थे। वादन प्रतियोगिता के नाम तय हो चुके थे। गायन के लिए भी नूतन कालेज की मिसेज कुमार और श्रीराम हाईस्कूल के श्रीखंडे सर की स्वीकृति मिल गयी थी। तीसरे निर्णायक की खोज हो रही थी। एकाएक पंडित जी ने कहा, "अपनी कनु को रख लो ना!"

"मुझे?" मैं चौंक पड़ी।

"क्यों? क्या हर्ज है। बच्चे कैसा गा रहे हैं यही तो देखना है। मेरे खयाल से इतनी समझ तो तुम्हें है।"

मैंने उस प्रस्ताव को आदेश मानकर स्वीकार कर लिया। और झूठ क्यों बोलूं, मन भीतर-ही-भीतर पुलकित हो उठा। जिस प्रतियोगिता में साल-दर-साल गाकर इनाम जीते हैं। उसमें जज बनकर बैठने का अपना ही आनंद है।

पर मेरा यह आनंद अधिक देर तक न टिक सका। क्योंकि लड़कों के जाते ही पंडित जी बोले, "कनु, अच्छे से तैयारी कर लेना।"

"क्यों?"

"आजकल निर्णायकों को गाना भी पड़ता है।"

"क्यों?"

"बच्चे भी तो जानें कि उन्हें परखनेवाले कितने गहरे में हैं।"

आकाशवाणी के कार्यक्रम में तो पंडित जी की याद नहीं आयी। बड़े-बड़े नाम गिना दिये पर सबसे पहले जिसने स्वर-ज्ञान कराया, उसका कहीं उल्लेख भी नहीं और यहां बड़ा नाटक हो रहा था।

पर लाख कोसने के बावजूद मैं उसके गाने में मीन-मेख नहीं निकाल सकी। मारू बिहाग गा रही थी वह—'जागूं मैं सारी रैन बलमा···' लगा जैसे प्रभा अत्रे को गले में उतार लिया हो।

मेरे हाथ-पांव और फूल गये। मेरा नाम आया तो किसी तरह घिसट कर मैं माइक के पास जा बैठी। आंख उठाकर किसी की तरफ देखा भी नहीं। प्रणव दासगुप्ता मेरा परिचय देते हुए बता रहा था—अभी-अभी कल्याणी दीदी एक भयंकर बीमारी से जूझ कर उठी हैं। हम सबका भाग्य ही है कि हमने उन्हें पा लिया। एक अरसे बाद वे फिर हमारे लिए अमृत वर्षा करने जा रही हैं।

कहां का अमृत और कहां की वर्षा? तानपूरा उठाते हुए भी हाथ कांप रहे थे। षड्ज लगाकर ज्यों ही आलाप भरना शुरू किया तो आवाज ऐसे थरथराने लगी जैसे किसी ने मुझे पूस की रात में बेतवा की धार में खड़ा कर दिया हो। जिस जाड़े के लिए सुबह से सिर पटककर रह गयी थी, वह अब मेरी फजीहत करने पर तुला हुआ था।

अपनी उस असहाय अवस्था में पंडित जी पर इतनी कोफ्त हो आयी। अच्छा फंसा दिया था मुझे। मन-ही-मन उनसे कहा, "महाराज, आप ही की कृपा से यहां बैठी हूं। आप ही लाज रखिएगा। बदनामी होगी। मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा। बिलकुल ही नहीं बन पड़ेगा तो बागेश्री को भैरवी बनाकर यहीं लुड़क जाऊंगी। फिर आप निपटते रहिएगा।"

और इसके बाद अपनी सारी शक्ति समेटकर मैंने गुहार लगायी:

बिनती सुनो मोरि
अवधपुर के बसैया
मोरा तुम बिन कोऊ न और
दुख को हरैया

और आश्चर्य—मैं स्वयं अपने स्वर-लालित्य पर मुग्ध हो गयी। क्यों डर रही थी मैं? मेरा कुछ भी तो नहीं बदला था। मेरी वही सधी हुई

आवाज थी, जो तार-सप्तक को तीर की तरह बेधती चली गयी थी। कहीं कोई अवरोध नहीं, कोई फिसलन नहीं। उतरे में जब मैंने 'जानकीपति राम' को टेरा था तो कितनी सहजता से मध्यम को छू आयी थी।

कार्यक्रम के बाद इतनी तालियां बजीं कि लगा, तब तो नहीं हुई, पर अब मैं खुशी से जरूर बेहोश हो जाऊंगी।

श्री खडे सर ने हमेशा की तरह अपने भीमसेनी अंदाज में 'जो भजे हरि को सदा' गा दिया उन्हें याद ही न रहा कि आज पंडित जी भी गायेंगे। बेचारे हाथ जोड़कर क्षमा मांगने लगे।

पंडित जी हंसकर बोले, 'वैसे भैरवी के बाद गाने का विधान तो नहीं है। पर आज मैं गाऊंगा। फिर कभी यह मौका मिले, न मिले।"

पचहत्तर साल का वह बूढ़ा तपस्वी तनी हुई चाल से स्टेज पर आया। श्रीखडे सर हारमोनियम लेकर विनीत मुद्रा में बैठ गये। संगीत विद्यालय के प्राचार्य तबला पकड़ने दौड़ गये। तानपूरे के लिए तो होड़-सी मच गयी।

स्टेज पर रखी हुई गुरु प्रतिमा को शीश नवाकर पंडित जी मादर पर आये। श्रोताओं का अभिवादन करके उन्होंने गुरुवंदना का एक श्लोक सस्वर पढ़ा। जोगकौंस की गुरावट थी यह। और फिर उसी राग में सूर का भजन छोड़ दिया :

मो सम कौन कुटिल खल कामी

जेहि तन दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक हरामी।

उसी दिन जान पायी कि अगर गायक समर्थ हो तो भैरवी के बाद भी समा बांध सकता है। मैंने मन-ही-मन उन्हें शत बार प्रणाम किया। अपने को बार-बार धिक्कारा कि नदी किनारे बैठकर भी मैं प्यासी रह गयी तो यह मेरा दुर्भाग्य ही तो है। नदी तो दौड़कर मेरे पास आयेगी नहीं। अपना सारा अहंकार त्यागकर मुझे ही अंजुरी फैलाकर उसके पास जाना पड़ेगा।

मैं फिर से गा सकती हूं, यह अहसास इतना सुभावना था, यह खुशी इतनी अलौकिक थी कि उसे बार-बार भोगने का मोह होने लगा। इसी मोह

में मैंने शिवरात्रि के रतजगे में एक घंटे का भजन का कार्यक्रम दे डाला। होली की दूज पर हर साल की तरह श्रीखंडे सर के घर महफिल जमी तो मैंने उसमें भी भाग लिया। मुहल्ले के राममंदिर में नवरात्रि के नौ दिन अखंड भजन-कीर्तन होता था। शादी से पहले दो-दो घंटे मैं अकेला पारकर लेती। इस वार भी मैंने सुवह पांच से सात का समय मांग लिया।

मां एक दिन वोलीं, "कनु, तू यहां-वहां गाती फिर रही है। उन लोगों को पता चल जायेगा तो एक वहाना हो जायेगा।"

"वहाने उनके पास और भी वहुत-से हैं मां। एक और सही। पांच साल मैं परदे में वैठकर रही, तव उन्होंने मुझे कौन-सा खिताव दे डाला? मुद्दत के वाद खुशी के दो-चार क्षण मेरे हाथ लगे हैं। कृपा कर के उन्हें मत छीनो।"

"कनु ठीक कह रही है," वड़े भैया वोले, "हम लोग कव तक उनकी परवाह करते रहेंगे? और किसलिए? हमें तो वस, अव कनु की सेहत का ध्यान रखना है। जरा अपनी वेटी की तरफ गौर से देखो तो। जो काम वड़े-वड़े डॉक्टर न कर सके, वह गायन ने कर दिखाया है। मैं तो इस काम के लिए पंडित जी का आजन्म ऋणी रहूंगा।"

भैया गलत नहीं कह रहे थे। इन दिनों सचमुच मेरे चेहरे की रंगत वदल गयी थी। आंखों में पुरानी चमक लौट आयी थी। आंखों के निचले गड्ढे भर गये थे। रंग सांवला ही सही पर उसमें अव पहले की सी स्निग्धता आ गयी थी। पिछले दिनों मुझे दर्पण से दहशत होने लगी थी।

अव फिर उसके सामने देर तक वैठने का मन होने लगा। आत्म-विश्वास से भरपूर अपनी छवि पर मैं ही मुग्ध हो चली थी। चेहरे पर जो नयी रौनक, नयी ताजगी आ गयी थी, उसे वार-वार देखने का जी करता।

दीन-दुनिया से मन हटाकर मैंने फिर से सीखना प्रारभ कर दिया था। संध्या से रश्क करने की अव कोई जरूरत नहीं रह गयी थीं। एक-से-एक दुर्लभ वंदिशें अव मुझे भी मिल रही थीं। मैं, सध्या, श्रीरंग, प्रणव चौवे जी, अरुणा, सियाराम—हम चार-पांच लोग ही तो थे, जिन्हे पडित जी वड़े विश्वास से अपनी धरोहर सौंप रहे थे। उनकी मुद्रा घर के किसी वड़े वुजुर्ग

की-सी हो गयी थी जो अपने रहते ही जायदाद का बंटवारा कर देना चाहता है। किसी अतदृष्टा की तरह वे इन दिनों बार-बार अपने अंतिम समय का हवाला देते, जिससे कभी तो खीज होती थी और कभी मन भार आता था।

एक अरसे बाद जीवन में कुछ ठहराव आया था और मैं संतुष्ट थी। स्मृति के कपाटों को बंद करना मैंने सीख लिया था और यही मेरे सुख-संतोष का रहस्य था।

पर मेरे अपने मेरी तरह निश्चिन्त नहीं हो पाये थे। उस दिन काम से लौटी तो घर में पांव देते ही भाभी ने कहा, "कनु, चाय पी लो तो जरा मेरे कमरे में आ जाना।"

"क्यों ?"

पर भाभी ने शायद मेरा प्रश्न सुना ही नहीं। मेरा कौतूहल ही मुझे उनके कमरे तक ले गया। देखा वे दो-तीन बनारसी साड़ियां गोद में रखे विचारमग्न बैठी हैं। मुझे देखते ही बोलीं, "कौन-सी पहनेगी, बता दो तो जरा हलकी-सी प्रेस मार दूंगी।"

मैं तो हैरान रह गयी, ' इतनी भारी साड़ी पहनाकर मुझे कहां भेज रही हो ?"

"शादी में"

"किसकी ?"

"ये तो तुम्हारे भैया ही बता सकते हैं।"

"भैया ?" मैं दनदनाती हुई बाहर आयी पर एकदम सहम गयी। ड्राइंगरूम में भैया अकेले नहीं थे, पंडित जी उनके पास बैठे थे। अपने स्वर को तार-सप्तक से यथाशक्ति नीचे उतारते हुए मैंने पूछा, "ये आप मुझे किनकी शादी में ले जा रहे हैं भैया ?"

"रज्जो की शादी में—और कहीं नहीं, हम ले जा रहे हैं।" यह आवाज पंडित जी की थी।

मेरा रोम-रोम जैसे सुलग उठा। फिर भी मैंने भरसक विनम्र होते—

हुए कहा, "मैं नहीं जाऊंगी। मेरे पास निमंत्रण नहीं है।"

"अपने घर जाने के लिए भी तुम्हें निमंत्रण चाहिए ?"

इस प्रश्न का एक तीखा-सा उत्तर मेरे होठों तक आया था पर पूछनेवाले का लिहाज कर के चुप रह गयी। पर अपना रोष से तमतमाया चेहरा लेकर वहां खड़े रहना भी अच्छा नहीं लग रहा था। मैं भीतर जाने को मुड़ी तो भैया ने पुकारा, "कनु सुनो।"

उन लोगों की ओर पीठ दिये मैं वहीं खड़ी रह गयी।

"पंडित जी शायद तुम्हें बताना नहीं चाहते। पर मैं सोचता हूं, तुम अब बच्ची नहीं हो। सच को झेल सकती हो।"

"कह भी डालिए, जो कहना है।"

"वे लोग मनोज की दोबारा शादी रचाने का प्लान बना रहे हैं। इसीलिए उन्होंने सब जगह यह प्रचार कर रखा है कि तुम पागलपन की कगार पर हो। हम सब—यानी मैं, पंडित जी, मां, तुम्हारी भाभी—सब यही चाहते हैं कि शादी में आये सारे आमंत्रित नाते-रिश्तेदार तुम्हें देख लें ताकि उन्हें असलियत का पता चल जाये।"

"और उसके बाद ?" मैंने एकदम पलटकर पूछ लिया तो भैया बगलें झांकने लगे।

"उसके बाद तुम्हारा मन जो कहे, वही करना," पंडित जी ने कहा तो मैं एकदम फुंफकार उठी, "और मेरा आत्मसम्मान ! क्या आपके निकट उसका कोई मूल्य नहीं है ?"

"देखो बेटे, हर बात सीमा में अच्छी लगती है। मान अभिमान की दीवार अगर हद से ऊंची बैठ जाती है तो मिलने के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। गृहस्थी कोई अखाड़ा नहीं है कि हर बार हार-जीत का ही विचार करती रहो। कभी-कभार हार भी मान लेनी चाहिए। अगर इससे तुम दोनों के बीच की खाई पट सकती है तो उससे तुम्हारा मान-भंग नहीं होगा। और फिर क्या सदा अपने लिए ही सोचती रहेगी ? तुम्हारे सामने एक बच्ची भी तो है ? क्या मां के रहते वह अनाथ हो जाये ?"

बच्ची के उल्लेख मात्र से मन कैसा-कैसा हो गया। अपने आंसू छिपाने के लिए मैंने चेहरा घुमा लिया तो भैया बोले, "इतना अभिमान अच्छा नहीं

है तनु। जरा सोचो तो, तुम्हारी भलाई के लिए पंडित जी अपमान करवाने पर तुले हैं। निमंत्रण तो उनके पास भी नहीं है पर वे तुम्हारे साथ जा रहे हैं।"

"मेरे अपमान की चिंता रहने दो कपिल। तुम लोगों का जन्म भी नहीं हुआ था, तब से इस शहर में हूं। भरे मंडप में किसी ने मेरी ओर आंख भी उठायी तो मेरे पचासों शिष्य खड़े हो जायेंगे। एक अध्यापक की यही तो पूंजी होती है। और एक इसी अधिकार से तनु को लिवाने आया हूं। आदेश या अनुरोध—जो भी वह समझे, उसे मानना ही होगा। क्योंकि दोबारा यह सब कहने के लिए मैं नहीं आ पाऊंगा।"

थोड़ी देर बाद पंडित जी की बगल में जब मैं तांगे में जाकर बैठ गयी तो वे यह सोचकर संतुष्ट हो गये कि उनका आदेश मैंने मान लिया है। उनका यह भ्रम मैंने तोड़ा भी नहीं। अगर जिया साथ होतीं तो समझ जातीं कि जिनका आदेश मैंने सिर-माथे लिया है, वे पंडित जी नहीं हैं, बल्कि मेरे भीतर की नारी है। अतीत की सारी कड़वाहट निगलकर, अपना स्वाभिमान ताक पर रखकर आतुर मन से जो चल पड़ी है—वह पंडित जी की शिष्या नहीं है, श्वेता की मां है, मनोज की पत्नी है। वही एक छोटा-सा घर है जिसे उसने सपनों से सजाया था। उसे दोबारा देखने की ललक ही उसे खींचकर लिये जा रही है।

जिस उत्साह से गयी थी, लौटते समय मन उतना ही रोता था।

यह बात नहीं कि वहां किसी ने मेरा कोई अपमान किया हो। उलटे ऐसा अभूतपूर्व स्वागत तो ससुराल की देहरी पर पहली बार हुआ। पहली बार ससुराल पक्ष के इतने सारे रिश्तेदारों से मेरा सामना हुआ था—और उन लोगों ने मुझे हाथोंहाथ लिया था। पंडित जी के आदेश पर जाने किस-किस के पैर छूकर मैंने ढेर सारे आशीर्वाद बटोर लिये थे। औरतें सिर्फ आशीर्वाद देकर ही संतुष्ट नहीं हुईं, उन्होंने चिबुक उठाकर भर आंख मुझे निहारा भी था। उन आंखों में एक कौतूहल था जो धीरे-धीरे आश्चर्य और प्रशंसा में बदल जाता था।

भाभी की घंटे भर की मेहनत अकारथ नहीं गयी थी।

बहन की शादी में रश्मि भी सपरिवार आयी थी। उससे मेरी यह पहली ही भेंट थी। वह मुझ से कटी-कटी ही रही पर उसकी सास ने पास बिठाकर मुझ पर ढेर सारा प्यार उड़ेल दिया। बार-बार कहती रहीं, "हाय, कैसा सलोना रूप है! एक रंग जरा दबा हुआ है तो क्या हुआ?"

यही नहीं, उन्होंने खास तौर से बेटे को बुलवाकर मुझसे परिचय भी करवाया। वह भला आदमी तो अपना विस्मय भी छुपा न सका। छूटते ही बोला, "भाभी जी! आपने तो हमें चौंका ही दिया। हमने तो पता नहीं क्या-क्या सुन रखा था।"

पंडित जी ने जाते ही एलान कर दिया था कि बहू केवल कन्यादान का पुण्य लूटने आयी है। सुनकर महिला मंडल गद्‌गद् हो गया था। केवल अम्मां जी ने मुंह बिचका दिया था। बुदबुदायी भी थीं कि "बिना बुलाये तो हम भगवान के घर भी न जैहैं।" पर इससे ज्यादा प्रकट रूप से वे कुछ नहीं कह सकीं।

रजनी से मेरा ननद भौजाईवाला मधुर रिश्ता कभी जुड़ा ही नहीं। अपनी बधाई के उत्तर में मैंने एक सलज्ज मुस्कान की अपेक्षा भर की थी। पर उससे इतना भी न हुआ। उलटे वह और सिमट-सिकुड़कर बैठ गयी। थोड़ी देर बाद मुझे ध्यान आया कि वह साड़ी में अपने कंगन छुपाने का यत्न कर रही है। मैं तो उन कंगनों की बात एकदम भूल ही गयी थी। ये जड़ाऊ कंगन मुझे मां ने श्वेता के जन्म पर दिये थे। इस बीच मेरा इतना कुछ छिन गया था कि उसके आगे इन कंगनों की बिसात ही क्या थी?

मुझे निराश किया तो उन दोनों ने, जिनके लिए मैं भागी-भागी वहां गयी थी। बुआ की शादी के लिए सजी-धजी श्वेता की झलक बस एक बार मिली थी। तब उसे गोद में खींचकर प्यार करने का मन हुआ था। पर वह विस्फारित नेत्रों से मुझे देखती भर रही। उन आंखों में मैं परिचय की क्षीण आभा भी पा जाती तो उसके सहारे अपनी बेटी तक पहुंच जाती। पर उसका कोमल अंतस ठोंक-पीटकर किसी अलग सांचे में ढाल दिया गया हो जैसे।

उसके बाद पता नहीं उसे किस तहखाने में छुपा दिया गया। मैं दोबारा उसकी छाया भी नहीं देख पायी।

उन्होंने मुझे ठीक कन्यादान के समय ही देखा और बुरी तरह चौंक पड़े। उन आंखों में केवल विस्मय ही होता तो कोई बात नहीं थी, पर वहां खीज थी, रोष था बेजारी थी।

और कन्यादान करते समय उन हाथों का वह आवेगहीन ठंडा, बेजान स्पर्श! उसके बाद तो जैसे कुछ सोचने के लिए बाकी ही नहीं रहा। पति के मन की तह तक जाने के लिए नारी को शब्दों की सीढ़ी की जरूरत नहीं पड़ती। स्पर्श की भाषा वह खूब समझती है।

लौटते समय पूरे रास्ते कोई कुछ नहीं बोला।

तांगे से उतरते हुए मैंने पंडित जी से पैर छूकर कहा, "आपकी आज्ञा थी इसीलिए मैंने अपना सारा मान त्यागकर संधि का हाथ बढ़ाया था। अब दोबारा तभी जाऊंगी जब वहां से बुलावा आयेगा। मेरा इतना अधिकार तो आप मानेंगे ना।"

उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। उनके चेहरे पर टंका विषाद ही बता रहा था कि उनके सारे उत्तर शेष हो चुके हैं।

९

उस दिन सोचा भी न था कि पंडित जी को मैं आखिरी बार देख रही हूं।

मृत्यु की पूर्वसूचना उन्हें मिल चुकी थी। कई बार उन्होंने इस ओर संकेत भी किया था। पर हम लोग नहीं चेते। इसीलिए वह दारुण समाचार सुनते ही दिल दहल गया। जैसे बैठी थी, वैसे ही काठ होकर रह गयी। उनके अंतिम दर्शनों का सौभाग्य भी मुझे नहीं मिल सका। क्योंकि जब तक मैं होश में आयी, सब कुछ निपट गया था।

बाद में भी मुझे वहां किसी ने जाने नहीं दिया। मां, भैया दो-चार बार हो आये थे। उनसे बार-बार पूछने का मन करता पर वह विषय ही जैसे घर में वर्जित कर दिया था। अपने बिस्तर पर लेटी मैं पुरानी यादों को दोहराती रहती। रज्जो की शादी के बाद मैं एक तरह से मुंह फुला-कर बैठ गयी थी। अपनी अवमानना का सारा दोष मैंने उनके सिर मढ़ दिया था। अब उस विषय में सोचती तो अपने को धन्यवाद ही देती कि मैंने उनके अंतिम आदेश की अवहेलना नहीं की। नहीं तो शायद जीवन भर अपने को क्षमा नहीं कर पाती।

मेरी तबीयत जरा संभलते ही मां मुझे लेकर सुनील भैया के पास बंबई चली आयीं। इस बार उन्होंने निमंत्रण की राह नहीं देखी। उन लोगों ने भी इस बार बहुत सौजन्य बरता। भैया ने तो यहां तक कहा कि कनु यदि तुम्हें मशीनी जिंदगी रास आती हो तो यहीं रह जाओ। मैं तुम्हारे स्थानां-तरण की व्यवस्था कर दूंगा।

पर सुनील भैया की सदाशयता का लाभ नहीं उठाया। घर लौटकर फिर अपनी रुटीन जिंदगी शुरू कर दी थी।

पर अब उसमें एक बहुत बड़ा शून्य भर गया था और उससे उबरने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। भैया-भाभी अलग परेशान थे। घर में फिर पहले का-सा निरानंद वातावरण छा गया था।

उस दिन जिद करके भैया-भाभी मुझे पिक्चर ले गये। हम लोग ऑटो से उतरे ही थे कि सामने श्रीरंग दिखाई दिया।

"श्री!" मैंने आवाज दी।

वह चौंका, आवाज का अनुसरण कर उसने मुझे देखा और एक औपचारिक-सी नमस्ते करके मुंह फेर लिया।

"श्री" मैं भीड़ को चीरती उसके पास पहुंच गयी—"चलो, आओ, पिक्चर देखेंगे।"

"शुक्रिया", उसने रुखाई से कहा, "पर इस समय फुरसत नहीं है।"

"क्यों? अब इतनी रात गये कौन-सा काम कर रहे हो?"

"जिया के पास सोने जा रहा हूं।"

"जिया! जिया क्या यहीं है अभी?"

"कहां जायेंगी?"

"नहीं—मेरा मतलब है? मैंने सोचा था।"

"आप एक बार आकर देख तो सकती थीं।"

"श्री, दरअसल उस दिन मुझे इतना शाक लगा था—इसीलिए शायद घर पर सबने मुझसे झूठ-मूठ ही कह दिया होगा कि जिया यहां नहीं हैं।"

वह मुंह फेरकर एकदम चल पड़ा।

"श्री, सुनो तो…"

"क्या है?"

उन दो शब्दों में उसने अपना सारा रोष उड़ेल दिया था। मुझसे जवाब देते नहीं बना।

"दीदी, एक बात बताइए। क्या आपका दुख जिया के दुख से बड़ा था? फिर उसका इतना हौवा क्यों बनाया जा रहा है?"

उसकी यह बात हथौड़े की तरह सारी रात मेरे मस्तिष्क पर चोट करती रही।

दूसरे दिन मैंने घर पर बताया भी नहीं। बैंक के बहाने घर से निकली और सीधे वहीं पहुंच गयी।

दरवाजा हमेशा की तरह खुला था पर अब वहां संगीत की अनुगूंज नहीं थी। सारा माहौल भांय-भांय कर रहा था। ठंडी जमीन पर चटाई बिछाकर जिया लेटी थीं। उन्हें बेवक्त इस तरह लेटे देखकर ही जाने कैसा लगा।

"जिया!" मैंने हौले से पुकारा।

मैंने जैसे भरे घड़े को छू दिया। मेरी ओर देखे बिना ही वह झरझर बह चलीं। उनका वह करुण विलाप सुनकर दिल दहल गया। लगा कि मैं अब गिरी कि अब गिरी। पर कहीं अवचेतन में खड़े होकर श्री जैसे आंखें दिखा रहा था, 'क्या आपका दुख जिया के दुख से भी बड़ा है!'

उसी के डर से मन को मजबूती से थामे रही, बिखरने नहीं दिया।

रुलाई का आवेश जब कुछ थमा तो जिया ने उलाहना दिया, "भाग में बाल-बच्चा ना हते। ऊको हमने एकऊ बार मलाल न कियो। तुम्हाए पंडज्जी कहत हते कि औरन के तो दो-चार होते हैं। तुम्हाए लानें तो मैं पूरी फौज छोड़ जाऊंगा। बैठे-बैठे खूब सेवा करवाइयो। पर उनकी माया उनई के साथ चली गयी। अब तो कोऊ मडैया में झंपत नैया। एक सिरी आउत है के एक चौबे जी आत हैं···तुम्हें भी तो अब फुरसत भई है।"

"जिया मैंने सोचा था कि आप घर चली गयी होंगी।"

"घर अब हमारे लाने उते ठौर कहां है लली। गठरी भर माया होती पास में तो हर कोऊ लिवा जातो। छूंछी को को राखैगो?"

"क्या उमेश भैया ने भी कुछ नहीं कहा? वे तो आपको कितना मानते थे? आप लोगों ने भी उनके लिए कितना कुछ किया है।"

"उमेश तो बोले थे कि काकी, इतै अकेली ना रहो। हमारे संग चली चलो। पर वहू बोलीं कि घर हमाओ छोटो है। ई कबाड़ ऊ में न समैहे।

उनकी मंशा हुयी कि हम सब बेंच-बांच दें—और बिना, बेचवे की हमाइ हिम्मत ना पड़ी।"

मैंने उस 'कबाड़' को देखा। पांच तानपूरे, दो हारमोनियम, एक भजनवाली तंबूरी एक ढोलक, तबले की ३-४ जोड़ियां, एक सितार भी था जो कभी कोई शौकीन बजा लेता था। उमेश की नजरों में यह सब कबाड़ था क्योंकि वे नहीं जानते थे कि पंडित जी ने कितने कष्टों से, जीवट से ये साज जुटाये थे। कई बार किसी अच्छे नग के लिए जिया ने अपना जेवर तक उतारकर दिया है। तब जाकर यह सरंजाम जुटा है। उमेश की बहू क्या जाने कि इनमें पंडित जी के प्राण बसते थे। मंदिर में रघुनाथ जी की सेवा तो उनकी आजीविका थी। पर उनके श्रद्धास्थान तो यही साज थे। रोज सवेरे स्नान-संध्या के बाद वे गुरु महाराज को प्रणाम करते थे, उसी तरह इन्हें भी मत्था टेकते थे।

जिया इन साजों को कैसे बेच दें। बच्चों की तरह इनकी साज-सभाल क्या इसीलिए करती रही हैं कि किसी दिन इन्हें कबाड़ी के हाथ बेच दें। पंडित जी इन्हें पूजते थे, बरतते थे पर रख-रखाव तो जिया के ही जिम्मे था।

"नहीं जिया—ये चीजें नहीं बिकेंगी फिर कभी कोई ऐसी बात कहे तो उसे हमारे पास भेज देना। हम निपट लेंगे।

वहां से आने के बाद भी जिया मेरे मन मस्तिष्क पर छायी रहीं। बातें तो मैं बहुत लंबी-चौड़ीकर के आ गयी थी। पर उनमें किसी का घर थोड़े ही चलता है। जिया के भविष्य का कुछ तो फैसला करना ही था। सबसे पहले मैं सेठ जी से जाकर मिली। वे बेचारे बड़े सज्जन निकले। बोले, "वे मेरे पिता की गुरुमाता हैं। मेरे लिए भी मां के समान हैं। वे आजीवन यहां आराम से रह सकती हैं। हम से जो सेवा बन पड़ेगी, हम करेंगे। वैसे तीज-त्योहारों पर सीधा-सामग्री पहले की ही तरह पहुंचती रहेगी।

फिर मैंने भैया की सहायता से उनके लिए पेंशन फार्म भरा। दौड़-धूप की सारी जिम्मेदारी भी भैया पर डाल दी। इसके बाद सारे शिष्य-

समुदाय ने आपस में मिल-बैठकर समय बांध लिया। हर अपनी-अपनी सुविधानुसार जिया के पास घड़ी-दो घड़ी बैठने लगा।

मैं जब भी जाती, कुछ फल-फूल लेकर जाती। कभी भूख का बहाना-कर वहीं कुछ बना लेती, जिया को भी जबरदस्ती खिला देती। वे अकसर खीज उठतीं, 'हमें रोज-रोज पाप में काहे ढकेलती हो बिना ! बिटिया की कमाई अब हम न खैहें।"

मैं तुम्हारी बहू हूं जिया, इसी नाते सेवा कर रही हूं। तुम्हें सोच करने की जरूरत नहीं है।"

'बहू' शब्द सुनते ही उनकी त्योरी चढ़ जाती। वे बहन को, उसके बेटे को बुरी तरह कोसने लगतीं।

पहले उस घर में जाते हुए मन में एक उमंग-सी होती थी। पर अब तो जैसे एक कर्तव्य-सा निभा रहे थे हम लोग।

धीरे-धीरे एक ऊब-सी हम लोगों पर छाने लगी। अपनी-अपनी आपा-धापी में व्यस्त लोगों को एक एकाकी, दुखिया नारी के पास घंटे-दो-घंटे बैठना भार-सा लगने लगा। इस एकरसता को तोड़ने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था।

उस दिन भी अपने को किसी तरह ठेल-ठालकर मैं वहां तक ले गयी थी।

उढ़के हुए दरवाजे में धीरे से मुंह डालकर भीतर का जायजा लेना चाहा तो जो दृश्य देखा, उससे स्तब्ध रह गयी।

एक हारमोनियम पर औंधी पड़कर जिया बिलख-बिलखकर रो रही थीं। मैं एकदम घबरा गयी। कहीं ये उमेश महाशय फिर से तो नहीं आ गये।

"जिया ! क्या हुआ है तुम्हें ? क्यों रो रही हो ?"

अपना अश्रुसिक्त चेहरा ऊपर उठाकर उन्होंने मुझे देखा और भीगे स्वर में बोलीं, "गावे वारे तो चले गये लली, अब तो रोयवेवाले ही बचे हैं।" और वे फिर बिलख उठीं। बड़ी मुश्किल से उन्हें शांत किया जा सका। फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपनी व्यथा-कथा सुनायी।

घर से भागे हुए लड़के को चाचा, ताऊ बड़ी मुश्किल से पकड़कर लाये थे। गाने-बजाने से उनका ध्यान हटाने के लिए तुरत-फुरत उनकी शादी भी कर दी थी। पर नयी-नवेली किशोरी दुलहन को पहली ही भेंट में उस अक्खड़ गवैये ने धमकी दे दी, "मेरे साथ रहना हो तो मेरे शौक से निबाह करना पड़ेगा। नहीं तो तुम अपने बाप के घर बखुशी जा सकती हो। मैं कभी लिवाने नहीं आऊंगा।"

क्या करती बेचारी, हारकर समझौता करना ही पड़ा। पति के इस शौक को सिंदूर की तरह मांग में धारण करना ही पड़ा। मां-बाप, सास-ससुर सब नाराज कि अगर पति को रास्ते पर नहीं ला सकी तो फिर यह रूपगुण किस काम का? पर गौरा मैया की तरह वह सबकी बुरी बन गयी पर अपने भोले बाबा का साथ नहीं छोड़ा। जहां ले गये, गयीं; जिस हाल में रखा, रहीं, अपनी कहानी शेष करते हुए बोलीं, "हम कैसेऊ रहे आयें बिन्ना पर हमाई मड़ैया कबहुं सूनी ना रही। पर अब तो वे सुन्नकार करके चले गये।"

जिया फिर सिसकने लगीं। मैं हैरान होकर उन्हें देखती रह गयी। यह अनपढ़ महिला जिसे अकसर मैं बेसुरी कहा करती थी अंतरतम तक स्वर-गंगा में नहायी हुई है। यह संगीत पार्श्वसंगीत की तरह उनकी गृहस्थी में पैठ गया था। उसी की लय पर ये अमानुषी कौशल से घंटों का काम मिनटों में निपटाती रही हैं। पति क्या गये, इसका तो जीवन-संगीत ही थम गया।

"जिया तुमने गाना क्यों नहीं सीखा?"

"और खाना को बनाती?"

"अगर गाना सीखी होतीं तो आज तुम्हारा ये सूनापन भर जाता।"

"जो सीखे हैं, वे कौन सो कमाल कर रहे हैं। दो महीना हो गये कोऊ ने धूर तक तो झटकारी नैया।"

मैंने फिर उन्हें बोलने न दिया। फटाफट सारे गिलाफ उतार डाले। मैं उन्हें लेकर पिछवाड़े नल पर चली गयी तो जिया पीछे से साबुन लेकर आ पहुंचीं। दोनों ने मिलकर मैल की परतें बहा दीं और उन्हें आंगन में रस्सी पर डाल दिया। फिर मैं झाड़ू लेकर भीतर आयी—दरी, फर्श, सबको झटकारकर फिर से बिछाया, उन पर धुली चादरें बिछायीं। फिर बेतरतीब

पड़े साजों को करीने से रखा।

काली और पीली नक्काशीवाला मेरा तानपूरा छूते ही मुझसे लिपट गया। उसे गोद में लिटाकर मैंने साड़ी का छोर उंगली में लपेटकर उसकी गर्द पोंछ डाली। यहां-वहां जरा भी हाथ छू जाता तो उसके तार बेसुरी आवाज में शिकायत कर बैठते। अपने प्रिय साज का वह बेसुरापन मुझसे सहा नहीं गया। तारों को ठीक से कसकर दो-चार बार उंगली फेरी तो कमरा एक गूंज से भर उठा। मेरा मन आह्लाद में नहा गया।

उसके बाद अपने पर वश ही न रहा।

क्षितिज पर सिंदूरी सांझ उतर रही थी। मैंने पूरिया में आलाप भरना प्रारंभ किया। अपनी आवाज पर जैसे मैं स्वयं ही मुग्ध हो गयी। कितनी देर तक गाती रही, पता ही नहीं चला। अंतस में जमा हुआ बहुत कुछ जैसे पिघलता जा रहा था। गाना समाप्त कर तानपूरा रखते हुए घड़ी देखी तो उसमें आठ बज रहे थे।

जिया को टेरने भीतर गयी तो पीतल के डिब्बों की चमचमाती कतार से आंखें चौंधिया गयीं। जिया की जगर-मगर गृहस्थी के ये डिब्बे एक अहम हिस्सा हुआ करते थे। इस समय जिया उन्हें पोंछकर करीने से लगा रही थीं। उनमें रखा सामान थालियों में उलटा हुआ था। कई चीजों में तो जाले पड़ गये थे।

"देख तो लली, सब नास हो गओ।"

"जिया, तुम्हारा लंगूर नहीं आया आज! मुझे जरा घर तक छोड़ देता। बहुत देर हो गयी आज!"

"आपने बुलाया और हम चले आये," वह आंधी की तरह प्रविष्ट होता हुआ बोला, "देखिए, नाम लेते ही हाजिर हो गया हूं।"

"नाम लेते ही जो हाजिर हो जाता है, उसे क्या कहते हैं, जानते हो?"

"जानता हूं। मैं भी किस···" और वह एकाएक ठिठककर चुप हो गया, "दीदी, घर आज कितना भरा-भरा लग रहा है।"

"आज जरा झाड़-पोंछकर चमका दिया है न! इसी से।"

"नहीं—वह बात नहीं है। सच बात कहूं! मुझे यहां सुरों की महक आ रही है।"

"अरे, वाह कविराज, तबला बजाते-बजाते ये शायरी कब से शुरू कर दी !"

"मजाक नहीं कर रहा दीदी। सच, रोज यह घर जैसे काट खाने को दौड़ता था। आज लग रहा है जैसे गुरु जी···"

"धत, अभी मैं थोड़ा-सा गा रही थी। बस।"

"अच्छा !" उसने आश्चर्य में भरकर मुझे देखा, "तब तो आज आपको नहीं छोड़ूंगा। बहुत दिनों से हाथ साफ करने का मौका नहीं मिला है। चलिए।"

मैं मना करती रह गयी पर वह जिद पर अड़ गया। मेरे पास तानपूरा रखकर तबले की जोड़ी और हथौड़ी उठा लाया। उसका वह बालसुलभ उत्साह देखकर मना भी करते नहीं बना। उसके मन में भी मेरी तरह एक बर्फ की सिल जम गयी होगी।

अभी-अभी गा चुकी थी। दोबारा गाने की जरा भी इच्छा नहीं थी। उनका मन रखने के लिए यों ही बिहाग की एक चीज गुनगुना दी। पर वह तो पूरे मूड में था। उसने पहले आलाप से ही अपना जौहर दिखाना शुरू कर दिया। मैं थोड़ा अन्यमनस्क थी। एकाध बार गोता भी खा गयी। पर फिर एकदम सभलकर बैठना पड़ा। श्री की नीयत साफ नहीं थी। वह शरारत पर उतर आया था।

मैंने भी फिर पैंतरा बदला। वह चीज समाप्त करके कहा, "लो, अब एक टप्पा सुनो।" और उसे संभलने का मौका दिये बगैर ही शुरू हो गयी। टप्पा गायन वैसे मुझे कभी प्रभावित नहीं कर सका। हमेशा लगता कि स्वरों की कलाबाजी हो रही है। पर पंडित जी के सामने यह सब कहने का साहस नहीं था, अतः सीखना ही पड़ा। खमाज की यह मुश्किल बंदिश सिखाते हुए पंडित जी ने खास तौर पर कहा था—"अगर तबलची ज्यादा चौं-चपड़ करने लगे तो यह उसके मुंह पर दे मारना। भागता नजर आयेगा।"

ठीक यही हुआ। पांच मिनट तक तो वह सम के लिए ही हाथ-पांव मारता रहा। चीज का मुखड़ा ही उसकी पकड़ाई में नहीं आ रहा था। फिर जरा उसमें गति आयी तो मैंने टप्पा समाप्त कर चंद्रकौंस में एक

तराना प्रारंभ कर दिया—एकदम सुपरफास्ट स्पीड से।

बेचारा पसीने-पसीने हो गया।

कोई चालीस मिनट बाद मैंने तानपूरा नीचे रखा तो पसीना पोंछते हुए बोला, "वाह दीदी, मजा आ गया।"

बच्चू हमें छकाने चले थे। जानते नहीं कि जिस गुरु का गंडा बांधे हो, उन्हीं से हम भी सीखे हैं। और तुमसे बहुत पहले से सीख रहे हैं।

कानों पर हाथ रखकर वह मेरे पैरों में लोट गया।

"ये क्या कह रही हैं दीदी, मैं आपकी परीक्षा लूंगा? राम-राम!"

"फिर शैतानी क्यों कर रहे थे?"

"वह तो बस, जरा जायका बदल रहा था।"

"मतलब?"

"कल एक गजलों की महफिल में बजाने चला गया था। आप तो जानती हैं, आजकल गजल का चलन है। जहां-तहां गजल गायकों की बाढ़ आयी हुई है। ठीक से कल की देवी जी—वाह क्या चीज थीं! न तलफ़्फ़ुज ठीक था, न आवाज। और सुर ऐसा पक्का कि हारमोनियमवाला रो-रो दिया। और हाजमा इतना दुरुस्त कि हर अंतरे के बाद एक मात्रा डकार जाती थीं।"

"लोगों ने हूट नहीं किया?"

"कोई हूट कैसे करता। उन्हीं के घर में बैठकर उन्हीं के चाय-समोसों पर सब हाथ साफ कर रहे थे। वे और वहां सुरताल की समझ थी ही किसे?"

"और ऐसी बेसुरी महफिल में तुम क्यों चले गये थे?" मैंने किंचित रोष से पूछा।

"ये पापी पेट है न दीदी, हर कहीं ले जाता है।"

"ये पेट बीच में कहां से टपक पड़ा?"

"एक्जैक्टली पेट नहीं दीदी, क्योंकि उसमें दाना-पानी तो बहन डाल ही देती है। पर और भी तो खर्चे हैं। मसलन···"

"और उन खर्चों के लिए तुम मिरासियों की तरह कहीं भी पहुंच जाओगे?" मुझे एकदम ताव आ गया था, "अपनी इज्जत का तो तुम्हें

ख्याल है ही नहीं। पर उस महात्मा का अपमान क्यों करते हो जिसने तुम्हें अपनी कठोर साधना से अर्जित विद्या दी है? तुम्हारे ये करतब देखकर उनकी आत्मा बड़ा सुख पा रही होगी न? दूसरे खर्चे हैं तो क्या हमसे कहते शर्म आती है? आगे से खबरदार जो ऐसी-वैसी जगह गये। कान पकड़कर यहीं से खींच लाऊंगी—समझे?"

मेरी बमबारी से श्री पहले तो चकित और फिर रुआंसा हो आया। गर्जन-तर्जन सुनकर जिया भी हाथ का काम छोड़कर उठ आयी थीं। उन्हें तो आश्चर्य हो ही रहा था, मैं खुद हैरान थी। ये किस अधिकार से इतना सब कह गयी मैं? कौन कहलवा गया? और श्री ने भी सिर झुकाकर सब कुछ सुन क्यों लिया? पलटकर जवाब क्यों नहीं दिया? उसके भले-बुरे की जिम्मेदारी अचानक मैंने अपने ऊपर क्यों ओढ़ ली? किसका आदेश था वह?

१०

सवेरे-सवेरे संध्या को अपने घर देखकर वड़ा आश्चर्य हुआ।

"क्यों री, शादी का कार्ड देने आयी है क्या ?"

"नहीं दीदी," उसने मेरे पैर छूकर कहा, "आज शाम युववाणी में गा रही हूं। रेडियो पर पहला प्रोग्राम है न, इसलिए किसी का आशीर्वाद लेने का मन हो आया। जिया के पास जाने की तो हिम्मत नहीं पड़ी; आपके पास दौड़ी चली आयी। फिर दोपहर में तो आप काम पर चली जायेंगी।"

मैं किसी को आशीर्वाद देने लायक कव से हो गयी ? पर अनायास मिला यह वड़प्पन वड़ा अच्छा लगा। मैंने समय अच्छे से नोट कर लिया। वैंक में पहुंचते ही माथुर से कह दिया कि शाम को लौटते समय तुम्हारे यहां रुकूंगी। मुझे एक जरूरी प्रसारण सुनना है। घर पहुंचते वहुत देर हो जायेगी।

हम लोग एकदम समय पर ही पहुंच पाये थे। जैसे ही माथुर ने रेडियो आन किया वचकानी आवाज में उद्घोषणा सुनाई दी—उभरते कलाकारों

पर नहीं, वह जैसे हिंडोले पर झूलते हुए गा रही थी। चीज भी चुनी तो 'ना बोलो श्याम'। चीज का मुखड़ा ही तीन-तीन आवर्तनों से शुरू होता था। और इससे तो ढंग से 'सा' भी नहीं लग रहा था।

वह तो नर्वस हो ही रही थी, मेरे हाथ-पांव फूल गये। ठीक से गा सकती! पहला ही कार्यक्रम चौपट हो गया तो दोबारा कोई बुलायेगा भी? बाहर भद्द उड़ेगी सो अलग। मैंने अपनी सारी शक्ति बटोरकर उसके लिए प्रार्थना शुरू कर दी। कार्यक्रम समाप्त होने तक मैं इतना थक गयी, जैसे कहीं घंटा-दो-घंटा गाकर उठी हूं।

"अच्छा गाया न?" माथुर की पत्नी ने चाय का कप पकड़ाते हुए पूछा।

"दरअसल चाय तो बड़ी देर की बन गयी थी," माथुर बोला, "पर आप इतना तन्मय हो गयी थी कि डिस्टर्ब करने का मन नहीं हुआ।

उन दोनों को धन्यवाद देकर मैं सीधे सध्या के घर पहुंची। उसे कस कर डांट लगाने की इच्छा हो रही थी। वह दरवाजे पर ही मिल गयी। अभी-अभी लौटी थी। मुझे देखते ही उत्सुक होकर पूछा, "कैसा रहा दीदी?"

उसका वह आकुल स्वर सुनकर सारा रोष पिघल गया। प्यार से उसकी पीठ थपथपाते हुए मैंने कहा, "इतना नर्वस क्यों हो रही थी? क्या पहली बार गा रही थी?"

"रेडियो पर तो पहली बार ही था न दीदी! इतना डर लग रहा था। शुरू के दो-तीन मिनट तो आवाज कांप ही रही थी। फिर एकदम हिम्मत आ गयी। लगा, जैसे कोई हाथ पकड़कर मुझे अंतरे तक ले जा रहा है··· बाद में तो अच्छा रहा था न!"

मेरी आंखों में आंसू आ गये। उस महफिल की याद आ गयी, जब मैंने बीमारी के बाद पहली बार गाया था। उस दिन भी तानपूरा उठाते हुए मैं और मेरी आवाज इसी तरह कांप रही थी। उस समय पंडित जी को कितना कोसा था मैंने! पर बाद में सब ठीक हो गया था। उस दिन क्या पंडित जी ने ही आकर मेरा साहस बढ़ाया था? सहारा देकर मुझे गतव्य तक पहुंचाया था? क्या मेरी खातिर वे भी यंत्रणा के, प्रार्थना के उस दौ···

से गुजरे थे ?

मेरे आंसुओं का संध्या ने कुछ और ही अर्थ निकाला। बोली, "महीनों से रियाज नहीं है दीदी। घर पर कर लेती हूं बस, उतना ही। कोई बतानेवाला भी तो नहीं है।"

संध्या की बात से विचारों को एक नयी दिशा मिली।

दूसरे ही दिन मैं श्रीखंडे सर से मिली, "सर, क्या शाम को दो घंटे का समय दे सकेंगे ? रोज न सही, हफ्ते में एक बार, दो बार।"

"किसलिए ?"

"हम लोगों को गाइड करनेवाला अब कोई नहीं है सर। आपसे थोड़ा दिशा-निर्देश मिल जाता।"

वे एकदम कानों पर हाथ रखते हुए बोले, "क्या बात कर रही हो कल्याणी ! उस आसन पर बैठने की पात्रता मुझमें नहीं है।"

"गुरु की हैसियत से न सही, बड़े भाई की हैसियत से ही आप हमारा मार्गदर्शन करते रहिएगा।"

"साल भर ठहर जाओ। अगले साल रिटायर हो रहा हूं। उसके बाद कुछ-न-कुछ तो करना ही है। तब हम गुरु जी के नाम पर एक स्कूल खोल लेंगे। उनके इतने सारे शिष्य बिखरे पड़े हैं। फंड्स मिलने में कोई कठिनाई नहीं होगी।"

"लेकिन जो लोग अब तक सीखते रहे हैं, उनका क्या होगा ? साल भर में तो वे रियाज करना भी भूल जायेंगे।"

"उन लोगों के लिए तो तुम हो ही ! अपनी योग्यता को इतना कम क्यों आंकती हो ? साल भर तक इस काम को खींच ले जाने की माद्दा तुममें जरूर है।"

मैंने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उनका आभार मानकर उठने लगी तो बोले, "एक मिनट रुको कल्याणी। एक जरूरी बात कहनी है।"

मैं वापस बैठ गयी।

"ये जो श्रीरंग है न, बड़ा टैलेंटेड लड़का है।"

"जी हां, वह तो है।"

"लेकिन उसका टैलेंट सिर्फ पूजा-पाठ में खर्च हो, यह अच्छा नहीं लगता।"

"पूजा-पाठ में? मतलब?"

"मतलब आजकल रघुनाथ जी की पूजा-आरती वही कर रहा है।"

"क्या कह रहे हैं?"

"सच कह रहा हूं। उस दिन जिया से मिलने चला गया था। तब देखा था। एकदम गुरु जी की तरह रेशमी धोती पहनकर आरती करता है। मैंने टोका तो बोला—ब्राह्मण का लड़का हूं। पूजा-पाठ तो मेरा धर्म है।"

"लेकिन सर, हर काम की एक उम्र होती है।"

"ठीक यही तो मैंने भी कहा था। बल्कि मैं तो उसे खैरागढ़ अपने एक मित्र के पास भेजना चाहता हूं। इस हीरे को वहीं चमका सकता है। पर उसने साफ मना कर दिया। बोला—एक तो मैं इतना खर्च नहीं उठा सकता। दूसरे मैं जिया को अकेले नहीं छोड़ सकता।"

कुछ देर तक मैं सुन्न होकर बैठी रही। फिर उठते हुए मैंने कहा, "सर, आप अपने खैरागढ़वाले मित्र से अवश्य बात कीजिए। श्री अवश्य जाएगा। उसका खर्च मैं दूंगी।"

"तुम?" सर आश्चर्य से मेरा मुंह ताक रहे थे।

जिया ने सुना तो बच्चों की तरह मचल गयी, "हम कहे देत हैं, सिरी कतहूं न जैहें। ऊके आसरे तो हम इते बने हैं। नहीं तो अपने घर न चले जाते!"

जिया का अपना घर यदि कहीं था तो इन्हीं दो कमरों में, यह मैं अच्छी तरह जानती थी। फिर भी मैंने उन्हें समझाते हुए कहा, "जिया, तुम अच्छी तरह जानती हो कि तुम मना कर दोगी तो श्री नहीं जाएगा पर क्या तुम चाहती हो कि इतना अच्छा मौका हाथ से निकल जाये और वे जिंदगी भर मंदिर में घण्टी बजाता रहे।"

"तो भेज दो, हमें काय पूंछन लगीं ? पराये लरिका पे हमाओ का जोर है ? अपनो जायो होतो तो का अकेली छोड़ के चलो जातो?" वे तमक कर बोलीं।

मुझे भी ताव आ गया, "अपना जाया होता तो तुम रोकती भी नहीं। उलटे खुश होतीं कि उसकी तरक्की का रास्ता खुल गया है।"

वे एकदम आंखों में पल्ला लगाकर सुबकने लगीं, "हमाई खुशी तो लली उनई के साथ चली गयी। न वे हमें इकली कर जाते न हम तुम औरन के निहोरे करते।"

"किसने कहा जिया कि तुम अकेली हो ! उसका भी इन्तजाम कर दिया है। शाम को नया किरायेदार आ रहा है। बगलवाली कोठरी खाली करके रख देना, किराये की शर्त भी तय कर लेना।"

"अरे, हम न लैंहे किराया-उराया। उलटे उनको रोटी-पानी बना देहैं। बस, आदमी परख कर रखियो। लुच्चे-लफंगे को हम झंपन न दैहें।"

"तुम अपनी आंखों से देखकर परख लेना। बस !"

बैंक से लौटकर मैंने अपना सामान अटैची में ठूंसा और भैया-भाभी के चरण छूकर कहा, "आशीर्वाद दीजिए, अपने घर जा रही हूं।"

वे दोनों अचकचा गये, "ये एकदम क्या सूझा तुम्हें ?"

"कभी-न-कभी तो जाना ही था।"

"बुलावा आया है क्या ?"

"उसके इंतजार में तो बूढ़ी हो जाऊंगी।"

"कम-से-कम मां को तो आ जाने दिया होता।"

"इसीलिए तो अभी जा रही हूं। मां होतीं तो शायद मोह इतनी आसानी से छूटता नहीं।"

भैया एकदम कपड़े पहनकर तैयार हो गये।

"जब जा रही हो तो रोकूंगा नहीं। पर अकेले नहीं जाने दूंगा। मुझे उन राक्षसों का भरोसा नहीं है।"

"वे लोग मुझे खा थोड़े ही जायेंगे और अगर अपमान होना ही है तो

मेरा होने दीजिए। आपको मैं बीच में घसीटना नहीं चाहती।"

विरपरिचित रास्तों से गुजरता हुआ रिक्शा मंजिल की ओर बढ़ रहा था और मैं शांत भाव से बैठी हुई थी। मन में जरा भी उफान या गुदगुदाहट नहीं थी। रिक्शा रुकते ही मैं सहज भाव से उतर पड़ी। सूटकेस वहीं पड़ा रहने दिया।

घंटी बजाने के कोई पांच मिनट बाद दरवाजा खुला। सामने अर्चना खड़ी थी। मुझे देखकर उसका चेहरा सफेद पड़ गया।

"श्वेता के पापा हैं?" मैंने पूछा।

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। करीब-करीब मुझे ठेलकर वह बाहर निकल गयी। उस सजे-धजे ड्राइंगरूम में कुछ समय तक मैं अकेली ही रह गयी।

"कौन है अर्चू?" कहते हुए मनोज भीतर से बरामद हुए और मुझे देखकर ऐसे चौंके जैसे भूत देख लिया हो। उनके हाथ की प्याली गिरते-गिरते बची।

मुझसे आंख चुराने के लिए वे बाहर देखने लगे और उनकी नजर सामने खड़े आटोरिक्शा पर अटक गयी, "ये रिक्शा…"

"मेरे साथ आयी है। मेरा सामान है उसमें। तुम कहोगे तो अंदर ले आऊंगी। वरना उलटे पैरों लौट जाऊंगी।"

उनके चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। वे पत्थर के-से होकर रह गये।

"चाय पी लो। ठंडी हो रही है।"

वे एकदम चौंके और एक सांस में कप खाली कर गये। अब वे फिर से विस्फारित नेत्रों से कुछ देख रहे थे।

"और लोग कहां हैं?"

"अम्मां श्वेता को लेकर पार्क में गयी हैं।"

"समझदार हैं। भरसक प्राइवैसी दे देती हैं। है ना?"

वे फिर जड़ हो गये थे।

"सुनो, इतना मनहूस चेहरा बनाने की जरूरत नहीं है। मैं यहां रहने के लिए नहीं आयी हूं।"

उनके चेहरे का कसाव एकदम ढीला पड़ गया।

"मेरी कुछ चीजें यहां छूट गयी हैं। ला दोगे तो मेहरवानी होगी। वैसे भी वे तुम्हारे किसी काम की नहीं हैं।"

"कौन-सी ?"

मैंने लिस्ट पकड़ा दी और सोफे पर निढाल होकर लेट गयी। मन तो हुआ था कि उनके पीछे-पीछे चली जाऊं और अपने सपनों के संसार को आखिरी वार नजर भरकर देख लूं। पर हिम्मत न पड़ी। इस मोहपाश को छुड़ाने में इतने दिन लग गये। फिर एक वार देख लूंगी तो पता नहीं कितनी रातों की नींद गायव हो जायेगी।

वड़ी देर वाद मनोज सामान लेकर लौटे। सामान क्या था, एक तानपूरा, कुछ गाने की कापियां और कुछ इनाम के कप और मेडल्स। उन्हें समेटते हुए मैंने कहा, "एक और चीज यहां छोड़कर जा रही हूं।"

"कौन-सी ?"

"श्वेता। उसका ध्यान रखना। अव से मां-वाप दोनों की भूमिका तुम्हें ही निभानी है।"

"उसकी चिंता करने की जरूरत नहीं है।"

"है। तभी तो कह रही हूं। मनोज जिन वच्चों की मां नहीं होती, पिता की परिकल्पना वे आदर्श पुरुष के रूप में करते हैं। इसीलिए कह रही हूं कि तुम ऐसा कोई काम नहीं करोगे जिससे श्वेता के मन में वसी तुम्हारी प्रतिमा खंडित हो।"

"तुम कहना क्या चाहती हो ?" वे गुर्राये।

"यही कि तुम अर्चना से व्याह कर लो।"

उनका चेहरा फक हो गया।

"सच कह रही हूं मनोज, तुम उसे विधिवत पत्नी वनाकर घर ले आओ। मेरी ओर से कोई रुकावट नहीं होगी—एक वात और। जव भी लगे कि श्वेता तुम्हारी नयी गृहस्थी में वाधा वन रही है, उसे निस्संकोच मेरे पास छोड़ जाना। उसकी मां हूं मैं। उसकी अवहेलना नहीं करूंगी। तव तक वस, यही करना कि मेरे लिए जो जहर उसके मन में वोया है, उसे और पनपने मत देना।" उसके वाद मैंने किसी उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की और अपना ताम-झाम समेट कर वाहर चली आयी।

मेरा रिक्शा और भैया का स्कूटर साथ-साथ ही बगीची में आकर रुके।

"भैया, आप ?"

"मेरा मन नहीं माना कनु। तुम्हारे पीछे-पीछे ही चला गया था वहां। और तुम्हारे साथ ही वहां से वापस हो लिया था।"

"तब तो आप सब देख-सुनकर आ रहे हैं।"

भैया ने सिर झुका दिया।

"मैं आपकी ममता को समझती हूं भैया। पर इस समय मुझ पर एक उपकार कीजिए। मुझे घर चलने के लिए मत कहिए। मैं कुछ दिन यहां रहना चाहती हूं। जिन लोगों को सचमुच मेरी जरूरत है, मुझे कुछ दिन उन लोगों के लिए जीने दीजिए।"

और फिर मैं दनदनाती हुई जिया के सामने जाकर खड़ी हो गयी, "नया किरायेदार आ गया है जिया। कमरा खाली हुआ कि नहीं ?"

जिया कुछ देर मुझे और मेरे सामान को देखती रही। फिर अपने दोनों हाथ पसार कर बोलीं "ना—इते तुम्हारे लाने ठौर नैया। तुम अपने घर जाहु बिन्नो !"

"और अपने घर में कोई घुसने न दे तो ?"

"तो देहरी पकर के बैठ जइयो। पांवन पे लोट जइयो। माफी माग लइयो। कबहु तो पसीजेंगे।"

"और तब तक क्या सड़क पर पड़ी रहूं या भाई के घर की रोटियां तोड़ती रहूं ?"

जिया से कोई उत्तर नहीं देते बना।

"तुम्हारे घर में जगह न हो तो मना कर दो जिया। पर अपने अनकिये अपराधों के लिए बार-बार माफी मांगने के लिए मत कहो। और सच तो यह है जिया कि सामने हिमालय की सी ऊंचाई हो तो झुकने में भी आनन्द आता है। पर बौनों के सामने घुटने टेकना तो अपने को और छोटा बनाना है।"

जिया पता नहीं मेरी बात समझीं भी कि नहीं। पर दरवाजे में पड़ा हुआ मेरा तानपूरा उठाकर उन्होंने एहतियात के साथ दीवार से टिका दिया।